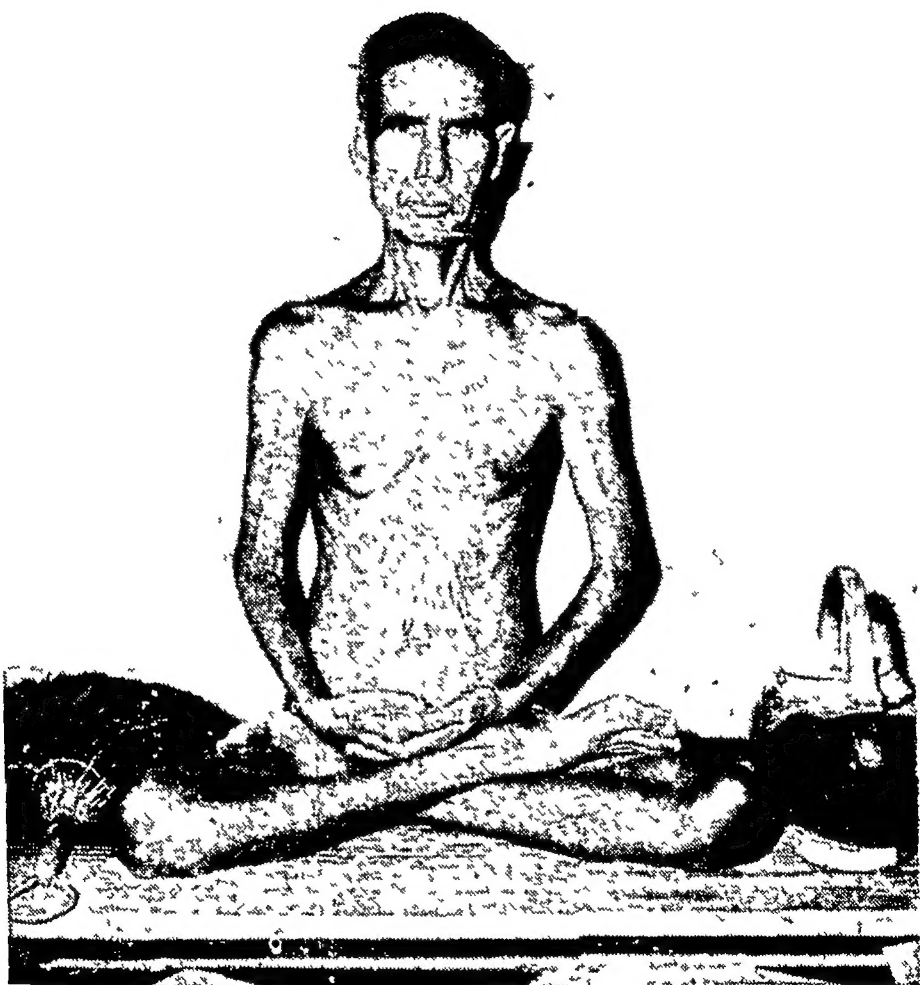


स्व०, आचार्य प्रवर १०८ श्री
शिव सागर जी म० सा०

दो शब्द

सस्कृत साहित्य रूप सागर अनेक सुभाषित रूप रत्नों से भरा हुआ है। ये सुभाषित, प्रकाशस्तम्भ के समान दिग्भ्रान्त पुरुषो को समुचित मार्ग का प्रदर्शन कराने मे परम सहायक होते है। अप्रस्तुत प्रशसा या अर्थान्तरन्यास अलंकार के माध्यम से कवियो ने अपने काव्यो अथवा पुराणो मे एक से एक बढकर सुभाषितों का समावेश किया है। आचार्य वादीभसिह सूरि ने 'क्षत्रचूडामणि' ग्रन्थ की रचना करते हुए प्राय: प्रत्येक श्लोक मे सुभाषित का समावेश किया है। अमित गति आचार्य ने 'सुभाषित रत्न सन्दोह' नाम से सुभाषितो का स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्मित किया है।

सुभाषितो का सग्रह विद्वानो को इतना अधिक प्रिय रहा है कि इस विषय पर अच्छे२ सग्रह प्रकाशित हुए है। 'सुभाषित रत्न भाण्डाकर' नाम का एक बृहदाकार सग्रह सस्कृत साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

श्रीमान् पूज्यवर स्वर्गीय आचार्य शिवसागरजी महाराज के सघ मे अनेक प्रबुद्ध मुनिराज उनके शिष्य है। 'ज्ञान-ध्यान तपोरक्त.' यह जो तपस्वियो का लक्षरण आगम में कहा गया है वह उन सघस्थ मुनियो मे अच्छी तरह घटित

होता है। उसी सघ मे श्री १०८ मुनि अजितसागर जी महाराज है जो बालब्रह्मचारी है तथा अध्ययन-अध्यापन मे निरन्तर निरत रहते है। आपने न्याय, व्याकरण, साहित्य तथा धर्म आदि विषयो को अच्छा अनुगम किया है और बडी रुचि के साथ संघस्थ साधुओ तथा माताजी आदि को विविध शास्त्रो का अध्ययन कराते है। पठन-पाठन के अतिरिक्त आपके पास जो समय शेष रहता है उसमे आप प्राचीन ग्रन्थो का अवलोकन कर उनका सशोधन तथा उनमे से उपयोगी विषयो का सकलन करते हैं। 'गणधरवलय पूजा' तथा 'रविव्रत कथा' आपके द्वारा सशोधित होकर प्रकाश में आई है। यह सुभाषित मञ्जरी नाम का सकलन भी आपकी ही कृति है। अनेक शास्त्रो का अध्ययन कर आपने हजारो सुभाषितो का संग्रह किया है तथा उन्हे विषय वार विभाजित कर उनके अनेक उपयोगी प्रकरण तैयार किये है।

इस सकलन मे जिनेन्द्रस्तुति, जिन भक्ति आदि २९ प्रकरण सकलित है। इन प्रकरणो मे शीर्षक देकर अनेक विषयो पर प्रकाश डाला गया है। जन साधारण के उपकार की दृष्टि से इन श्लोको का हिन्दी अनुवाद भी साथ मे दे दिया है। हिन्दी अनुवाद साथ रहने से प्रत्येक स्त्री पुरुष स्वाध्याय द्वारा लाभ उठा सकते है। इस सुभाषित मञ्जरी मे १००१ श्लोक है। उदयपुर के चातुर्मास मे मात्र

४२५ श्लोको का मुद्रण हो सका। चातुर्मास के बाद अन्यत्र विहार हो जाने से मुद्रण स्थगित हो गया। अत ४२५ श्लोको का सग्रह पूर्वार्द्ध के रूप मे प्रकाशित किया जा रहा है आगे का भाग उतरार्द्ध के रूप मे प्रकाशित किया जावेगा।

इस ग्रन्थ की प्रेसकापी तैयार करने तथा प्रकरणो को विषयवार विभाजित करने मे सघस्थित आर्यिका श्री १०५ विशुद्धमतीजी ने पर्याप्त योग दिया है तथा प्रकाशन मे श्री प ० गुलजारीलालजी चौधरी, केसली (सागर) और जौहरी श्री मोतीलालजी व महावीरजी मिन्डा उदयपुर ने बहुत सहयोग किया है इसके लिये इन सबके प्रति आभार प्रकट करता हू।

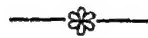
सुभाषित मञ्जरी पूर्वार्द्ध का प्रकाशन श्री शान्तिलाल जी जैन प्रो० शान्तिनाथ रोडवेज कलकत्ता की ओर से हो रहा है आप अत्यन्त उदार हृदय के व्यक्ति है। आपकी उदारता के फल स्वरूप ही इसका अमूल्य विवरण किया जा रहा है। आशा है अन्य सहधर्मी भाई भी इनका अनुकरण कर जिन वाणी के प्रचार मे योग दान करेंगे।

अन्त मे श्री १०८ मुनि अजितसागरजी महाराज के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हुआ आशा रखता हूँ कि आपके द्वारा इसी प्रकार अनेक ग्रन्थो का उद्धार होता रहेगा।

विनीत—

पन्नालाल साहित्याचार्य

सुभाषित मन्जरी विषयानुक्रमणिका



श्लोक

पृष्ठ (अ)

पृष्ठ	श्लोक
	इ
१६	इद शरीर परिणाम दुर्बल
४६	इन्द्राहमिन्द्र तीर्थेश
१०२	इतो हीनदत्ते
१२७	इन्द्रियाणि न गुप्तानि
७०	इच्छति शती सहस्त्र
	ई
१२	ईदृशो यदि वाज्ञानाद्
१८६	ईक्षोरग्रे क्रमश पर्वणि
	उ
५८	उत्तमस्य क्षण कोपो
७५	उद्भूता. प्रथयन्ति मोहमसम
६७	उष्णकाले जलदद्यात्
१८२	उदये सविता रागी
	ए
७	एकापि समर्थेय
५३	एक क्षमा वता दोष
१८७	एव प्रति दिन यस्य

पृष्ठ　　　　　　　　　　श्लोक

ध

न

❀—❀

पृष्ठ	श्लोक
	प
२८	परित्यक्ताकृतिग्रीष्मे
७३	पलितंक दर्शनादपि
७६	परिग्रही न पूज्येत
७६	परिग्रह ग्रह ग्रस्त
१४८	परपरिवादन मूक
१८६	पर द्रव्येषु ये अन्धा
४६	पाप यदर्जितमनेकभवै
५२	पाति व्रत्य स्त्रियारूप
८६	पात्रे दत्त भवेत्सर्व
३०	पिता माता भ्राता
१४६	पितु र्मातु शिशो पात्र
५१	पुन्यकोटि समस्तोत्र
१२१	पुण्य वन्तो महोत्सहा
१३८	पुरुषेक्षिप्यते वस्तु
६	पूज्यो जिन पति पूजा
१४	पूजा माचरता जगत्त्रयपते
५७	पूर्वं शोषयते गात्र
११६	पूजा लाभ प्रसिद्धयर्थ
१२५	पूर्व धर्मानुभावेन
१४०	पूज्या अपि स्वयं सन्तः
१२२	प्रसदि वरद स्वात्म च दीक्षया
१२५	प्रतिपद्य कदा दीक्षा
१४८	प्रारम्भे सर्व कार्याणि
१६१	प्राप्ते रत्नत्रये सर्वं

पृष्ठ	श्लोक
	म
२३	मक्षिका वृरग मिच्छति
२८	महायोगेश्वरा धीरा
४५	मत्वेति दर्शन जातु
४५	मलिने दर्पण यद्वत्
४८	महाघनी स एवस्त्र
७६	मनो दयानु बिद्धं चेन्
८६	मर्त्यापर श्रिय भुक्तवा
९६	मयुरवर्हं दानेन
१२४	मन्ये देह तदे वाह
१२६	मधुर स्निग्ध शीलानाम्
१३२	मक्षिका कीट केशादि
१३६	मनसि वचसि काये
१५४	मत्तवारण सक्षुण्णे
११	मायावी दूषको विद्वान
६४	माया करोति यो मूढ.
६४	माया युक्त वचस्त्याज्य
६५	माया वल्लिमशेषा
३०	मिथ्या दर्शन विज्ञान
८५	मिथ्यादृष्टि परीताना
४२	मुक्ता दु ख शतान्मुच्चैः
४८	मुक्तिमार्गस्थ मेवाह
८६	मुक्ति प्रदीयते येन
१३३	मुहूर्त त्रिशत कृत्वा
३१५	मुहूर्त द्वितय वस्तु

पृष्ठ श्लोक

म

पृष्ठ श्लोक

य

र

ल

पृष्ठ श्लोक

— o —

पृष्ठ	श्लोक
	स
१२१	ससार कूप सपति
१४१	सपत्सु,महता चित्त
१४१	सपदि विनयावनता
१५३	सपदो महतामेव
१५५	ससाराम्बुधि नारक सुखकरं
१६१	सम्यग्दर्शन ज्ञान
१३	सामोदैर्भू जलोद्भूते
२३	साधूना दर्शन पुण्य
२४	साधो समागमाल्लोके
२५	साधुनगगमनासाद्य
७७	साक्षादुल्लसतीव्र सयमतरु
१३९	साधो प्रकोपितस्यापि
२०	सिद्धा सिद्धयति सेत्स्यति
१५९	सिक्तोप्यम्बुधर व्रातै
५१	सुतवन्धुपदातीना
११२	सुचिर देव भोगे भोगेऽपि
१३६	सुकृताय न तृष्यन्ति
१३७	सुजनो न याति वैर
६०	सूपकार कवि वैद्य
८३	सौधर्मादिषु कल्पेषु
१६०	सौजन्य हन्यते भ्रन्शो
२	स्वर्गोवाऽस्मिन मनुज भवने
२६	स्पृष्टायत्र महीतदघ्रि कमलै
३२	स्मरमपि हृदि येषा ध्यानवन्हि

सुभाषितमञ्जरी

श्लोकसंग्रहकर्त्ता मुनि अजितसागर

अनुवादकर्त्ता

पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य (सागर)

जिनेन्द्रस्तुतिः

मालिनीच्छन्द

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
यदि लिखति गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥१॥

अर्थ-हे नाथ ! यदि समुद्र रूपी पात्र मे नील गिरि के बराबर कज्जल हो, कल्प वृक्ष की उत्तम शाखा लेखनी हो, समस्त पृथ्वी कागज हो और सरस्वती उन सब को लेकर स्वय सदा लिखती रहे तो भी आपके गुणो के पार को प्राप्त नहीं होती अर्थात् आप अनन्त गुणो के भण्डार हो ॥१॥

मन्दाक्रान्ता

स्वर्गे वास्मिन्मनुजभवने खेचरेन्द्रास्पदे वा
ज्योतिर्लोके फणिपतिपूरे नारकाणां निवासे ।
अन्यस्मिन्वा जिनप जनने कर्मणा मेऽस्तु सूति-
र्भूयोभूयो भवतु भवतः पादपङ्केज भक्तिः ॥२॥

अर्थ-हे जिनेन्द्र ! कर्मोदय के कारण मेरा जन्म चाहे स्वर्ग मे हो, इस मनुष्य लोक मे हो, विद्याधर राजाओ के स्थान मे हो ज्योतिर्लोक मे हो, नाग लोक मे हो, नारकियो के निवास मे हो और चाहे किसी अन्य जन्म मे हो परन्तु मै इतना चाहता हूं कि आपके चरण कमलो की भक्ति भव भव मे मुझे प्राप्त होती रहे ॥२॥

शिखरिणी

गृहीतं जीवानां परमहितबुद्धयेव जननं
प्रजारक्षोपाया रसमितशुभा येन कथिताः ।
तमोहारी ज्ञानी रविशशिनिभो यश्च जगतः
स शांति सर्वेभ्यो दिशतु वृषभः कर्मविजयी ॥३॥

अर्थ-जिन्होने जीवो के परम हित की इच्छा से ही जन्म धारण किया था, जिन्होने प्रजा को रक्षा के छह शुभ उपाय बतलाये थे, जो अज्ञानान्धकार को हरने वाले थे, ज्ञानी थे और जो

जगत् के लिये सूर्य तथा चन्द्रमा के समान थे वे कर्मों को जीतने वाले वृषभ नाथ भगवान सब के लिये शान्ति प्रदान करे ॥३॥

सती भार्यां पृथ्वी जलधिजलचीरा प्रणयिमि ।
उभे त्यक्त येन प्रशमरसरुच्यैव विभुना ।
कृतश्चात्मा पूर्णो विपुलमतिना योगबलिना
स शांति सर्वेभ्यो दिशतु वृषभः कर्मविजयी ॥४॥

अर्थ -विपुल बुद्धि के धारक तथा योग बल से युक्त जिनस्वामी ने स्नेह से युक्त पतिव्रता भार्या और समुद्र के जल रूप वस्त्र से युक्त-समुद्रान्ता पृथ्वी इन दोनो का शान्ति रस मे रुचि होने के कारण त्याग किया था तथा आत्मा को पूर्ण किया था । अनन्त गुणो के विकास से सहित किया था कर्मो को जीतने वाले वे वृषभ जिनेन्द्र सब के लिये शान्ति प्रदान करे ॥४॥

तपस्यांकेचित्तु स्वसुतसुरलोकार्थमनिशं
स्फुटं कुर्वन्ति त्वं भवततिविनाशाय कृतवान् ।
यदीया वाग्गङ्गा सुरमनुजमान्या प्रथमतः
स शांतिं सर्वेभ्यो दिशतु वृषभः कर्मविजयी ॥५॥

अर्थ-हे भगवन् ! स्पष्ट हे कि कितने ही लोग अपने लिये पुत्र तथा स्वर्ग लोगकी प्राप्ति के उद्देश्य से निरन्तर तपस्या करते हैं परन्तु आपने जन्मो के समुह को नष्ट करने के लिये तपस्या

की थी तथा जिनकी वाणी रूपी गङ्गा पहले से ही देव और मनुष्यो के द्वारा मान्य थी वे कर्म विजयी भगवान् वृषभ जिनेन्द्र सब के लिये शान्ति प्रदान करें ॥५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

आयातस्त्रिजगत्पते तव पदद्वन्द्वाम्बुजाराधना—
वाच्छाप्रेरितमानसः स्तुतिशतैः स्तुत्वा भवन्तं महत् ।
पुण्यं चाभिनवं पवित्रतरको जातोऽस्मि संप्रत्यहं
गच्छामि प्रततार्चनस्य भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥६॥

अर्थ-हे त्रिलोकीनाथ! मैं आपके चरण कमल युगल की आराधना सम्बन्धी इच्छा से प्रेरित चित्त होता हुआ आया था और सैकडो स्तुतियो से आपकी स्तुति कर मैंने बहुत भारी नवीन पुण्य प्राप्त किया है उस पुण्य से अत्यन्त पवित्र होता हुआ अब मैं जाता हुं, अतिशय विस्तृत पूजा से युक्त आपका फिरभी दर्शन प्राप्त हो ॥६॥

यस्य ज्ञानसुधाम्बुधौ जगदिदं विश्वं हि भस्त्रायते
कर्माण्यष्ट निहत्य येन सुगुणांश्चाष्टौ समासादिताः ।
पूजार्हं जिनदेव मच्युत मजं बुद्धं मुनिं शङ्करं
ध्यायेऽहं मनसा स्तवीमि वचसा मूर्ध्ना नमाम्यादरात् ।७।

अर्थ-जिनके ज्ञान रूपी अमृत के समुद्र मे यह समस्त ससार

भस्त्रा के समान जान पडता है अर्थात लुहार की धोंकनी के समान बहुत छोटा जान पडता है, जिन्होने आठ कर्मों को नष्ट कर आठ उत्तम गुण प्राप्त किये हैं, जो पूजा के योग्य हैं, अच्युत है – विष्णु हैं पक्ष मे ज्ञानादिगुणो से सहित हैं। अज है—ब्रह्मा हैं (पक्ष मे जन्म से रहित है) बुद्ध हैं तथागत हैं (पक्ष मे ज्ञान सम्पन्न हैं) मुनि हैं, विशिष्ट गुणो से सहित है) और शङ्कर है—शिव है (पक्ष मे शान्ति करने वाले हैं) ऐसे जिन देव का मैं हृदय से ध्यान करता हूँ वचन से उनकी स्तुति करता हू और मस्तक से आदर पूर्वक उन्हे नमस्कार करता हूँ ॥७॥

शालिनी

यद्वाग्ज्योतिः सप्ततत्त्वप्रकाशि
देहज्योतिः सप्तजन्मप्रभासि ।
ज्ञानज्योतिः सप्तभङ्ग्यात्मभासि
ज्योतिरूपः सोऽस्तु मे मोहनाशी ॥८॥

अर्थ – जिनकी वचन रूपी ज्योति सात तत्त्वो को प्रकाशित करने वाली थी, जिनके शरीर की ज्योति सात भवों को प्रकाशित करने वाली थी और जिनकी ज्ञान रूपी ज्योति सात भङ्गो के स्वरूप से सुशोभित थी ऐसी ज्योति स्वरूप को धारण करने वाले वे जिनेन्द्र मेरे मोह को नष्ट करने वाले हो ॥८॥

जिनभक्ति

मालिनी

हरतु हरतु वृद्धं वार्धकं कायकान्तिं
दधतु दधतु दूरं मन्दतामिन्द्रियाणि ।
भवतु भवतु दुःखं जायतां वा विनाशः
परमिह जिननाथे भक्तिरेका ममास्तु ॥९॥

अर्थ – वृद्धि को प्राप्त हुआ बुढापा भले ही शरीर की कान्ति को नष्ट कर दे, इन्द्रियाँ भले ही अत्यन्त मन्दता को धारण कर ले, भले ही दुःख हो अथवा भले ही मरण हो परन्तु इस ससार मे जब तक हूँ तब तक जिनेन्द्र भगवान में एक मेरी भक्ति बनी रहे ॥९॥

बसन्ततिलका

त्वां देव नित्यमभिवन्द्य कृतप्रणामो
नान्यत्फलं परिमितं परिमार्गयामि ।
त्वय्येव भक्तिमचलां जिन मे दिश त्वं
या सर्वमभ्युदय मुक्तिफलं प्रसूते ॥१०॥

अर्थ – हे देव ! निरन्तर आपको वन्दना कर प्रणाम करता हुआ मैं अन्य परिमित फल की याचना नही करता

किन्तु मैं यह याचना करता हूँ कि हे जिनेन्द्र ! आप ऐसा करे जिससे कि मेरी अचल भक्ति आप मे ही वनी रहे। ऐसी भक्ति जो कि समस्त स्वर्गादिक के अभ्युदय और मोक्ष के फल को उत्पन्न करता है ॥१०॥

आर्या

एकापि समर्थेयं जिनभक्ति दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥११॥

अर्थ – यह जिन भक्ति अकेली ही दुर्गति को दूर करने, पुण्य को पूर्ण करने और कुशल मनुष्यो को मोक्ष रूपी लक्ष्मी के प्रदान करने मे समर्थ है ॥११॥

अनुष्टुम्

भवन्तमित्यभिष्टुत्य विष्टपातिगपौरुषम्।
त्वय्येव भक्तिमकुशां प्रार्थये नान्यदर्थये ॥१२॥

अर्थ – हे भगवन ! लोकोत्तर पराक्रम के धारक आपकी इस तरह स्तुति कर मैं यही चाहता हूँ कि मेरी आप मे ही बहुत भारी भक्ति वनी रहे, और कुछ नही चाहता हूँ ॥१२॥

हम भगवान का स्मरण किस तरह करते है ?

निर्वाचो वचनाशया तृणभुजो मानुष्यजन्माशया
निःस्वा भूरिधनाशया कृतनवः सद्रूपदेहाशया।

मर्त्याः स्वर्गफलाशयाऽमृतभुजो निर्वाणसौख्याशया
संध्यायन्ति दिवानिशं सुमनसा तद्वत्स्मरामो वयम् ।१३।

अर्थ – जिस प्रकार गूंगे मनुष्य वचनो की आशा से तिर्यंच मनुष्यभव की आशा से, निर्धन बहुत भारी धन की आशा से कुरूप, सुन्दर शरीर की आशा से, मनुष्य स्वर्ग की आशा से, और देव मोक्ष सुख की आशा से रात दिन ध्यान करते है उसी प्रकार हे भगवन् ! हम अच्छे हृदय से आपका ध्यान करते हैं ॥१३॥

जिनेन्द्रार्चा

पञ्च शुद्धियाँ

सद्द्रव्यक्षेत्रकालार्चाभावाख्याः पञ्चशुद्धयः ।
जिनपुजाप्रतिष्ठार्थं बुधैरुक्ताः पृथक् पृथक् ॥१४॥

अर्थ – विद्वानो ने जिन पूजा की प्रतिष्ठा के लिये द्रव्य शुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि, प्रतिमाशुद्धि और भावशुद्धि के भेद से पांच शुद्धियो का पृथक् पृथक् निरूपण किया है ॥१४॥

कैसी प्रतिमा शुभ होती है

निराभरणवस्त्रास्त्रविकारादोषवर्जिता ।
दशतालविनिर्माणा जिनार्चा शुभदा भवेत् ॥१५॥

अर्थ -- जो आभूषण, वस्त्र, अस्त्र तथा मोह आदि के विकास रहित हो, निर्दोष हो और दशताल से जिसका निर्माण हुआ हो ऐसी जिन प्रतिमा शुभ होती है ।।१५।।

पूजा किस प्रकार की जाती है ?

धौतवस्त्रं पवित्रं च ब्रह्मसूत्रं सभूषणम् ।
जिनपादार्चनागन्धं माल्यं धृत्वाऽर्च्यते जिनः ।।१६।।

अर्थः--धुले हुए पवित्र वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, जिन चरणार्चचित की गन्ध और जिन चरण स्पर्शित माला धारण करजिनेन्द्र देव की पूजा की जाती है ।।१६।।

पूजा का आचार्य कौन हो सकता है ?

दानशीलोपवासादि पुण्याचारक्रियारतः ।
एवं विधगुणाढयोऽर्हत्पूजकाचार्य इष्यते ।।१७।।

अर्थ --जो दान, शील, तथा उपवास आदि पुण्याचार विषयक क्रियाओ मे लीन हो तथा इसी प्रकार सम्यक्त आदि अन्य गुणो से युक्त हो वही अर्हन्त भगवान् का पूजकाचार्य हो सकता है ।।१७।।

पूज्य, पूजक, पूजा और पूजा का फल

पूज्यो, जिनपतिः पूजा पुण्यहेतु र्जिनार्चना ।
फलं साभ्युदया मुक्ति र्भव्यात्मा पूजको मतः ।।१८।।

अर्थः- जिनेन्द्र भगवान् पूज्य हैं, भव्य जीव पूजक है

जिनेन्द्र भगवान् की अर्चा करना पुण्य वर्धक पूजा है, और स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति होना पूजा का फल है ॥१८॥

पूजा करने का अधिकारी

अकुण्डगोलकः श्राद्धः शौचाचमनतत्परः ।
पितृमातृसुहृद्बन्धुभार्याशुद्धो निरामयः ॥१९॥

अर्थ– जो कुण्ड[1] और गोकल[2] न हो जो श्रद्धा गुण से सम्पन्न हो, जन्म मरण सम्बन्धी शौच को दूर करने मे तत्पर हो, पिता माता मित्र भाई और भार्या से शुद्ध हो तथा निरोग हो वही पूजा का अधिकारी है ॥१९॥

शुचिः प्रसन्नमनो गुरुदेवभक्तो दृढव्रतः सत्वदयासमेतः
दक्षः पटु र्बीजपदावधारी जिनेन्द्रपूजासु स एव शस्तः ।२०।

अर्थ.– जो पवित्र हो, प्रसन्न हो, गुरु और देव का भक्त हो अपने व्रत मे दृढ रहने वाला हो, धैर्य और दया से सहित हो, समर्थ हो, चतुर हो, और बीजाक्षर पदो का अवधारण करने वाला हो वही पुरुष जिनेन्द्र भगवान् को पूजा मे उत्तम माना गया है ॥२०॥

---

१ पति के न मरने पर अर्थात् जीवित रहते हुए अन्य पुरुष के संपर्क से जा सन्तान होती है उसे कुण्ड कहते हैं २ और पति

के मर जाने पर विधवा के अन्य पुरुष के सपर्क से जो सन्तान होती है उसे गोलक कहते हैं ।

नित्यपूजास्वयं शस्तः प्रोच्यते विनयान्वितः ।
पूजकोक्तगुणोपेतः सर्वशास्त्ररहस्यवित् ॥२१॥

अर्थ – जो विनय से सहित हो, पूजक के कहे हुए गुणो से सहित हो, तथा समस्त शास्त्रो के रहस्य को जानने वाला हो, वही पुरुष नित्य पूजा मे प्रशस्त कहा जाता है ॥२१॥

पूजा कौन करे ?

मौनसंयमसम्पन्नै र्देवोपास्ति र्विधीयाताम् ।
दन्तधावनशुद्धास्यै र्धौतवस्त्रपवित्रितैः ॥२२॥

अर्थ – जो मौन सयम से सहित हैं, दातौन के द्वारा जिनका मुख शुद्ध हो गया है तथा जो धुले हुए वस्त्रो से पवित्र हो ऐसे मनुष्यों के द्वारा भगवान को पूजा की जाती है ॥२२।

प्रतिष्ठा के समय पूजा का अनधिकारी

अतिबालोऽतिवृद्धश्च ह्यतिदीर्घोऽतिवामनः ।
हीनाधिकाङ्गो व्याधिष्ठो भ्रष्टो मूर्खः कुरूपवान् ॥२३॥
मायावी दूषकोऽविद्वानर्थी क्रोधी च लोभवान् ।

दुष्टात्मा व्रतहीनोऽर्हत्प्रतिष्ठायां न शस्यते ॥२४॥

अर्थ -- जो अत्यन्त बालक हो, अत्यन्त वृद्ध हो, अत्यन्त लम्बा हो अत्यन्त बौना हो, हीनाङ्ग हो, अधिकाङ्ग हो, बीमार हो, भ्रष्ट हो, जाति पतित हो, मूर्ख हो, कुरूप हो, मायावी हो, दोषदर्शी हो, अविद्वान हो, याचना करने वाला हो, क्रोधी हो, लोभी हो, दुष्ट प्रकृति का हो, और व्रतहीन हो, ऐसा व्यक्तिअर्हन्त भगवान् की प्रतिष्ठा मे अच्छा नही समझा जाता ॥२४॥

अनधिकारी मनुष्य के पूजक होने का फल

ईदृशो यदि वाज्ञाना दर्येर्चज्जिनपुङ्गवम् ।
देशो राष्ट्रं पुरं राज्यं राजा विश्वं विनश्यति ॥२५॥

अर्थ - यदि अज्ञान वश ऐसा पुरुष जिनेन्द्र की पूजा करे तो देश राष्ट्र, नगर, राज्य और राजा सव नष्ट हो जाते है ।२४।

पूजन का काल और विधि

त्रिसन्ध्यामाचरेत्पूजां चतुर्भक्तिः स्तवं तथा ।
उत्तमाचरणं प्रोक्तं जपध्यानस्तवान्वितम् ॥२६॥

अर्थ - सिद्धभक्ति, पञ्च गुरुभक्ति, चैत्य भक्ति और शान्ति भक्ति इन चार भक्तियो से सहित प्रातः

मध्याह्न और सायकाल इन तीनों सन्ध्याओं में भगवान् की पूजा और स्तवन करना चाहिये। जप, ध्यान और स्तवन से सहित भगवान् की पूजा को उत्तमाचरण कहा गया है ।२६।

पुष्प से की जाने वाली पूजा का फल

सामोदैर्भूजलोद्भूतैः पुष्पैर्यो जिनमर्चति ।
विमानं पुष्पकं प्राप्य स क्रीडति यथेप्सितम् ।।२७।

अर्थ--जो पुरुष पृथ्वी और जल में उत्पन्न हुए सुगन्धित पुष्पो से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करता है वह पुष्पक विमान को पाकर इच्छानुसार क्रीडा करता है ।।२७।।

जिन मन्दिर में दीपक रखने का फल

यो जिनेन्द्रालये दीपं ददाति शुभभावतः ।
स्वयंप्रभशरीरोऽसौ जायते सुरसद्मनि ।।२८।।

अर्थ--जो भव्यात्मा शुभ भाव से जिन मन्दिर में दीपक देता है वह स्वर्ग में देदीप्यमान शरीर का धारक देव होता है ।२८।।

धूप से पूजा का फल

धूपंयश्चन्दनाशुअगुर्वादिप्रभवं सुधीः ।
जिनानां ढौकयत्येष जायते सुरभिः सुरः ।।२९।।

जो बुद्धिमान पुरुष जिनेन्द्र भगवान की चन्दन तथा

कृष्णागुरु आदि से बनी हुई धूप समर्पित करता है वह सुगन्धित देव होता है ॥२६॥

पूजा नमस्कार और भक्ति का फल

जिनेन्द्राणां मुनीशानां पूजनात्पूज्यतापदम् ।
उच्चैर्गोत्रं नमस्काराद्भक्ते रूपं च सुन्दरम् ॥३०॥

अर्थः- जिनेन्द्र भगवान और मुनिराजो की पूजा करने से पूज्यता का पद जिनेन्द्र भगवान तथा मुनिराजों के नमस्कार करने से उच्च गोत्र और इन्हीं की भक्ति करने से सुन्दर रूप प्राप्त होता है ॥३०॥

पूजा की प्रेरणा

शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत् ।
लक्षं त्यक्त्वा नृपाज्ञा च कोटिं त्यक्त्वा जिनार्चनम्

अर्थ- सौ काम छोड़कर भोजन करना चाहिये, हजार काम छोड़कर स्नान करना चाहिये, लाख काम छोड़कर राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिये और करोड काम छोडकर जिनेन्द्र देव की पूजा करनी चाहिये ॥३१॥

पूजा से जन्म की सफलता

पूजामाचरतां जगत्त्रयपतेः संघार्चनं कुर्वतां

तीर्थानामभिवन्दनं विदधतां जैनं वचः शृण्वताम् ।
सद्दानं ददतां तपश्च चरतां सत्वानुकम्पावतां
येषां यान्ति दिनानि जन्म सफलं तेषां सपुण्यात्मनाम्

अर्थ --जिनके दिन त्रिलोकी नाथ की पूजा करते हुए, सघ की पूजा करते हुए, तीर्थों की वन्दना करते हुए, जिनवाणी को सुनते हुए, समीचीन दान देते हुए, तपश्चरण करते हुए, और जीवदया को धारण करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं उन्ही पुण्यात्माओ का जन्म सफल है ॥३२॥

जिनधर्म प्रशंसा

अज्ञानियों के न जानने से जिन धर्म की हीनता नही होती

शार्दूलविक्रीडितच्छन्द

घूका न द्युमणिं विदन्ति किमु वा क्वास्य प्रकाशो गतः ।
काकाः पूर्णविधुं न जातु विदितः कान्तिर्गता क्वास्य किम् ।
भेका क्षीरनिधि च कूपनिलया निन्दन्ति निन्दास्य का
नान्येऽज्ञा जिनधर्ममत्र विदिता स्तस्यास्ति का हीनता॥३३।

अर्थ - यदि उल्ल सूर्य को नही जानते है तो क्या इससे

सूर्य का प्रकाश कही चला गया, ? यदि कौए पूर्ण चन्द्रमा को नहीं जानते हैं तो क्या इससे कही इसकी कान्ति चली गई ? यदि कुए में रहने वाला मेढक क्षीर समुद्र की निन्दा करते हैं तो क्या इससे इसकी निन्दा हो जाती है ? इसी तरह अन्य अज्ञानी जीव यदि जिन धर्म को नही जानते हैं तो क्या इससे इसकी कुछ हीनता होती है अर्थात् नही ।३३।

धर्म रूपी रसायन का पान प्रति दिन करना चाहिये

इदं शरीरं परिणामदुर्बलं पतत्यवश्यं शतसन्धिजर्जरम् ।
किमौषधं यच्छसि नाम दुर्मते निरामय धर्मरसायनं पिव

अर्थः- संकड़ो सन्धियो से जर्जर हुआ यह शरीर अन्त में दुर्बल होकर अवश्य ही नष्ट हो जाता है। हे दुर्बुद्धि तू इसे क्या औषध देता है ? तू तो रोग को नष्ट करने वाली धर्म रूपी रसायन को पी ॥३४॥

जिनधर्म की दुर्लभता

दुर्लभं मानुषं जन्म ह्यार्यखण्ड च दुर्लभम् ।
दुर्लभं चोत्तमं गोत्रं जिनधर्मः सुदुर्लभः ॥३५॥

अर्थः- मनुष्य जन्म दुर्लभ है, आर्यखण्ड दुर्लभ है, उत्तम गोत्र दुर्लभ है और जिन धर्म अत्यन्त दुर्लभ है ॥३५॥

जिन धर्म की अमूल्यता

जिनधर्मस्य भव्यानां संसारोच्छेदकारिणः ।
त्रैलोक्याधिकमूल्यस्य केन मूल्यं विधीयते ॥३६॥

अर्थ- जो भव्य जीवो के ससार का उच्छेद करने वाला है तथा जिसका मूल्य तीन लोक से अधिक है उस जिनधर्म का मूल्य किससे किया जा सकता है ?

धर्मात्माओ का धर्म

भक्तिः श्रीवीतरागे भगवति करुणा प्राणिवर्गे समग्रे
दानं दीने च पात्रे श्रवणमनुदिनं श्रद्धया सच्छ्रुतीनाम् ।
पापे हेयत्वबुद्धिर्भवभयमथने मुक्तिमार्गेऽनुरागः
सङ्गे निःसङ्गचित्तं विषयविमुखता धर्मिणामेव धर्मः ।३७।

अर्थ- श्री वीतराग भगवान् मे भक्ति होना, समस्त प्राणियो के समूह पर दया होना, दीन पात्र के लिये दान देना, प्रतिदिन श्रद्धा पूर्वक समीचीन शास्त्रो का सुनना, पाप मे हेयत्व बुद्धि का होना, ससार के भय को नष्ट करने वाले मोक्ष मार्ग से अनुराग करना, परिग्रह मे विरक्त चित्त का होना और विषयो से विरक्त रहना यह धर्मात्माओ का धर्म है ।३७।

धर्म ही सिद्धिमुख को देने वाला है

शिखरिणीच्छन्द

चिरं बद्धो जीवः सुकृतदुरिताभ्यां च वपुषा

स्वयं योग्योपायैर्भवति पयसोऽन्तर्घृतमिव ।
विमुक्तोऽयं यस्मा-दभव-दर्हन् सिद्धभगवान्
प्रपद्येऽर्हद्धर्मं तमिह शरणं सिद्धिसुखदम् ॥३८॥

अर्थ - जिस प्रकार दूध के अन्दर घी चिरकाल से निबद्ध है उसी प्रकार यह जीव भी चिरकाल से पुण्य पाप और शरीर से निबद्ध है। जिस धर्म के प्रभाव से यह जीव अर्हन्त और सिद्ध हुए हैं उसी सिद्धि सुख को देने वाले जिनधर्म की मैं शरण को प्राप्त होता हूँ ॥३८॥

धर्म की प्रधानता

चत्वारो वित्तदायादा धर्मचौराग्निभूभुजः ।
ज्येष्ठेऽपमानिते पुंसि त्रयः कुप्यन्ति सादराः ॥३९॥

अर्थ:- धन के हिस्सेदार चार है— १ धर्म, चोर, अग्नि, और राजा। इनमें से ज्येष्ठ अर्थात् धर्म का अपमान होने पर उसके प्रति आदर रखने वाले शेष तीन कुपित्त हो जाते हैं ॥३९॥

धर्म ही सुख का कारण है

धर्मपानं पिबेज्ज्ञानी प्रौढयुक्तिसमन्वितम् ।
ऋते धर्मं न सौख्यं स्याद् दुःखसङ्गविवर्जितम् ४०॥

अर्थ:. ज्ञानी मष्नुय को प्रबलयुक्तियो से सहित धर्म रूपी

पेय का पान करना चाहिये क्योकि धर्म के बिना दुःख के ससर्ग से रहित सुख नही होता ॥४० ।

धर्म की महीमा

धर्मयुक्तस्य जीवस्य भृत्यः कल्पद्रुमो भवेत् ।
चिन्तामणिः कर्मकरः कामधेनुश्च किङ्करी ॥४१॥

अर्थ-धर्म सहित जीव का कल्प वृक्ष सेवक है, चिन्तामणि किङ्कर है और कामधेनु किङ्करी है ॥४१॥

धर्मात्मा मनुष्य का अल्प जीवन भी अच्छा है

वरं मुहूर्तमेकं च धर्मयुक्तस्य जीवितम् ।
तद्धीनस्य वृथा वर्ष कोटीकोटीविशेषत ॥४२

अर्थ - धर्म सहित मनुष्य का एक मुहुर्त का जीवन भी अच्छा है और धर्म रहित मनुष्य का कोटिकोटी वर्ष का जीवन भी व्यर्थ है ॥४२॥

धर्म ही जीवन है

जीवन्तोऽपि मृता ज्ञेया धर्महीना हि मानवाः ।
मृता धर्मेण संयुक्ता इहामुत्र च जीविना ॥४३॥

अर्थ - यथार्थ मे धर्म से रहित मनुष्य जोवित रहते हुए भी मृत जानने के योग्य है और धर्म से सहित मनुष्य मर

कर भी इस लोक तथा परलोक दोनो मे जीवित है ॥४३॥

जिन धर्म ही मुक्ति का कारण है

सिद्धाः सिद्ध्यन्ति सेत्स्यन्ति कालेऽन्तपरिवर्जिते ।
जिनदृष्टेन धर्मेण नैवान्येन कथञ्चन ॥४४॥

अर्थ - आज तक जितने सिद्ध हुए हैं, वर्तमान मे सिद्ध हो हो रहे है, और अनन्त भविष्यकाल मे जितने सिद्ध होगे वे सब जैनधर्म से ही हुए है, हो रहे है, और होगे, अन्य प्रकार से नही ॥४४॥

धर्म का अनादर करने वाले की मूढता

अनादरं यो वितनोति धर्मे कल्याणमालाफलकल्पवृक्षे ।
चिन्तामणिं हस्तगतं दुरापं मन्ये स मुग्धस्तृणवज्जहाति ॥४५

अर्थ - जो कल्याण परम्परा रूप फल को देने के लिये कल्पवृक्ष स्वरूप धर्म का अनादर करता है । जान पडता है वह मूर्ख हाथ मे आये हुए दुर्लभ चिन्तामणि रत्न को तृण के समान छोड देता है ॥४५॥

धर्म शोभा का कारण

सस्येन देशः पयसाब्जखण्डः शौर्येण शस्त्री विटपी फलेन ।
धर्मेण शोभामुपयाति मर्त्यो मदेन दन्ती तुरगो जवेन ॥४६

देश धान्य से, कमल समूह जल से, शस्त्र का धारक

धर्महीन मनुष्य जल्दी नष्ट होता है

छिन्नमूलो यथा वृक्षो गतशीर्षो यथा भट ।
धर्महीनो नरस्तद्वत्कियत्कालं च तिष्ठति ॥४७॥

अर्थ.- छिन्न मूल वृक्ष के समान और शिर रहित योद्धा के समान धर्म हीन मनुष्य कितने समय तक स्थित रह सकता है ॥४७॥

धर्म का लौकिक फल

धर्मेण सुभगा नार्यो रूपलावण्यसंयुताः ।
कामदेवनिभाः पुत्रा कुटुम्बसुखसाधनम् ॥४८॥

अर्थ - धर्म से सौभाग्य शालिनी एव रूप और सौन्दर्य से सहित स्त्रिया, कामदेव के समान पुत्र और सुख का साधन कुटुम्ब प्राप्त होता है ॥४८॥

धर्मो कामदुघाधेनु धर्मश्चिन्तामणिर्महान् ।
धर्म कल्पतरुः स्थेयान्धर्मो हि निधिरक्षय. ॥४९॥

अर्थ - धर्म मनोरथो को पूर्ण करने वाली कामधेनु है । बड़ाभारी चिन्तमणि रत्न है स्थिर रहने वाला कल्पवृक्ष है और अक्षय निधि है ॥४९॥

अत्यन्तविशदा कीर्त्ति स्तवनाच्च जगत् त्रये ।
जायते धीमतो धर्मादन्यद्वा यच्च दुर्घटम् ॥५०॥

अर्थ - जिनेन्द्र देव का स्तवन करने से बुद्धिमान मनुष्य की तीनो लोको मे अत्यन्त उज्वल कीर्ति फैलती है तथा धर्म के प्रभाव से और भी असभव कार्य सभव हो जाते है ।५०।

शार्दूल विक्रीडितम्

रम्यं रूपमरोगता गुणगणा कान्ता कुरङ्गीदृश ।
सौभाग्यं जनमान्यता सुमतय संपत्तय कीर्त्तय ।
वैदुष्यं रतिरुत्तमेन गुरुणा योग सहायः सुखं
धर्मादेव नृणां भवन्ति ह्यनिशं धर्मे मतिर्दीयताम् ॥५१॥

अर्थ - मनुष्यो को सुन्दर रूप, निरोगता, गुणसमूह, मृगनयनी स्त्रिया, सौभाग्य, लोक मान्यता, सद्बुद्धि, सम्पत्ति कीर्ति, पाण्डित्य, प्रीति, उत्तम गुरु का सानिध्य सहायता, और सुख धर्म से ही प्राप्त होते है इसलिये निरन्तर धर्म मे ही बुद्धि दीजिये ॥५१॥

क्षौ वशीकरणं धर्मो धर्मश्चिन्तामणि परः ।
उक्तेन बहुना किं वा सारं यद् यच्च दृश्यते ॥५२॥

अर्थ - धर्म ही पृथ्वी पर वशी करण मन्त्र है धर्म ही

उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है अथवा बहुत कहने से क्या ? संसार में जो जो सारभूत वस्तु देखी जाती है वह सब धर्म से प्राप्त होती है ।

-: साधु प्रशंसा :-

विसृष्टसर्वसङ्गानां श्रमणानां महात्मनाम् ।
कीर्त्तयामि समाचारं दुरितक्षोदनक्षमम् ।।५३।।

अर्थ - मैं सर्व परिग्रह के त्यागी महात्मा साधुओं के समीचीन आचार का कीर्त्तन करता हूँ क्योंकि सद् गुरुवों का गुण कीर्त्तन सर्व पापों को नष्ट करने में समर्थ है ।।५३।।

कौन क्या चाहता है ?

मक्षिका व्रणमिच्छन्ति धनमिच्छन्ति पार्थिवाः
नीचाः कलहमिच्छन्ति शान्तिमिच्छन्ति साधवः ।।५४।।

मक्खियां घाव चाहती है, राजा धन चाहते हैं, नीच कलह चाहते हैं और साधु शान्ति चाहते हैं ।।५४।।

साधु दर्शन का फल

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः ।
तीर्थं फलति कालेन सद्यः साधुसमागमः ।।५५।।

अर्थ.-साधुओ का दर्शन करना पुण्य है, क्योकि साधु तीर्थ स्वरूप है, अथवा तीर्थ से बढकर हैं, क्योकि तीर्थ तो कालान्तर मे फल देता है परन्तु साधुओ का समागम शीघ्र ही फल देता है ॥५५॥

गुरु ही पृथ्वी के रक्षक हैं

गुरवः परमार्थेन यदि न स्युर्भवादृशाः ।
अधस्ततो धरित्रीयं व्रजेन्मुक्ता धरैरिव ॥५६॥

अर्थ.- गुरुओ से भक्त कहते हैं कि यदि वास्तव मे आप जैसे गुरु न हो तो यह पृथ्वी पर्वतो से मुक्त हुई के समान नीचे चली जावे अर्थात जिस प्रकार पर्वतो से छोडी हुई कोई वस्तु नीचे जाती है उसी प्रकार गुरुओ से छोड़ी हुई पृथ्वी नीचे जाती है—चारित्र से भ्रष्ट हो जाती है ॥५६॥

साधु समागम से कुछ दुर्लभ नही है

साधोः समागमाल्लोके न किञ्चिद्दुर्लभं भवेत् ।
बहुजन्मसु न प्राप्ता बोधिर्येनाधिगम्यते ॥५७॥

अर्थ.- साधु समागम से ससार मे कुछ दुर्लभ नही है क्योकि उससे, जो अनेक जन्मो मे प्राप्त न हो सकी ऐसी बोधि प्राप्त हो जाती है ॥५८॥

साधु सगति फल

साधुसङ्गमनासाद्य यो मुक्तेरालयं व्रजेत् ।
स चान्धः प्रस्खलन्मार्गे कथं मेरुं समारुहेत् ॥५८॥

अर्थ:- जो पुरुष साधु सगति को प्राप्त किये बिना मोक्ष को प्राप्त होना चाहता है वह अन्धा मार्ग मे ही लडखडा कर रह जाता है मेरु पर्वत पर कैसे चढ सकता है ? ॥५८॥

अन्योक्ति — आम और शर्करा का सवाद

शार्दूल विक्रीडितम्

गर्वं मा कुरु शर्करे तव गुणान् जानन्ति राज्ञां गृहे
ये दीना धनवर्जिताश्च कृपणाः स्वप्नेऽपि पश्यन्ति नो ।
आम्रोऽहं मधुरकोमलफलैस्तृप्ता हि सर्वे जना
रे रण्डे तव को गुणो मम फलैः सार्धं न किञ्चित्फलम्

अर्थ - री शक्कर ! तू गर्व मत कर, तेरे गुणो को लोग राजाओ के घर मे ही जानते है परन्तु जो, दीन, निर्धन और कृपण पुरुष हैं वे तुझे स्वप्न मे भी नही देखते हैं । मैं आम हूँ, मेरे मीठे एव कोमल फलो से सब लोग संतुष्ट रहते हैं । री राड तेरा ऐसा कौनसा गुण है जो मेरे फलो की समानता कर सके । मेरे फल सधन, निर्धन—सभी के काम आते हैं । भावार्थ—साधु पुरुष वही है जो सब के काम आता है ॥५९॥

जैन यतियो का प्रभाव

स्पृष्टा यत्र मही तदङ्घ्रिकमलैस्तत्रैति सत्तीर्थतां–
तेभ्यस्तेऽपि सुराः कृताञ्जलिपुटा नित्यं नमस्कुर्वते ।
तन्नाम स्मृतिमात्रतोऽपि जनता निष्कल्मषा जायते
ये जैना यतयश्चिदात्मनिरता ध्यानं समातन्वते ॥६०॥

अर्थ:- चैतन्य स्वरूप आत्मा मे लीन रहने वाले जैन यति जहा ध्यान करते है वहा उनके चरण कमलो से स्पृष्य पृथ्वी समीचीन तीर्थता को प्राप्त होती है, ऐसी भूमि को देव लोग भी हाथ जोड कर निरन्तर नमस्कार करते है और उनके नाम के स्मरण मात्र से जन समूह निष्पाप हो जाता है ॥६०॥

मुनिपद में पाये जाने वाले गुण

स्रग्धराछन्द

नो दुष्कर्मप्रवृत्तिर्न कुयुवतिसुतस्वामिदुर्वाक्यदुखं ।
राजादौ न प्रणामोऽशनवसनधनस्थानचिन्ता च नैव ।
ज्ञानाप्तिर्लोकपूजा प्रशमसुखरतिः प्रेत्य मोक्षाद्यवाप्तिः
श्रामण्येऽमी गुणाः स्युस्तदिह सुमतयस्तत्र यत्नं कुरुध्वम्

अर्थ:- मुनि पद मे न खोटे कार्यों मे प्रवृति होती है और न दुष्ट स्त्री न दुष्ट पुत्र और न दुष्ट स्वामी के कुवचनो का

दुःख होता है, न राजा आदि को प्रणाम करना पडता है और न भोजन वस्त्र, धन तथा स्थान आदि की चिन्ता करनी पडती है। इनके विपरीत ज्ञान की प्राप्ति होती है, लोक प्रतिष्ठा बढती है, शान्ति सुख मे प्रीति होती है और मरने के बाद मोक्ष आदि की प्राप्ति होती है। हे बुद्धिमान्जनो! चूंकि मुनिपद मे ये गुण हैं इसलिये उसे प्राप्त करने का यत्न करो ॥६१॥

दिगम्बर साधु क्या धारण करते है ?

संतोषं लोभनाशाय धृतिं च सुखशान्तये ।
ज्ञानं च तपसां वृद्धयै धारयन्ति दिगम्बराः ॥६२॥

अर्थ.- दिगम्बर साधु लोभ का नाश करने के लिये सतोष को, सुख शान्ति के लिये धैर्य को और तप की वृद्धि के लिये ज्ञान को धारण करते है ॥६२॥

मुनि परिग्रह से रहित होते हैं

अपि वालाग्रमात्रेण पापोपार्जनकारिणा ।
ग्रन्थेन रहिता धीरा मुनयः सिंहविक्रमा ॥६३॥

अर्थ.-धीरवीर एव सिंह के समान पराक्रमी मुनि, पापका उपार्जन करने वाला बाल के अग्रभाग बराबर भी परिग्रह अपने पास नही रखते ॥६३॥

मुनिराज वन्दनीय है

महायोगेश्वरा धीरा मनसा शिरसा गिरा ।
वन्द्यास्ते साधवो नित्यं सुरैरपि सुवेष्टिताः ॥६४॥

जो उत्कृष्ट ध्यान के स्वामी है, धीरवीर है तथा देव भी जिन्हे निरन्तर घेरे रहते है ऐसे साधु मन से, शिर से और वाणी से वन्दनीय है ॥६३॥

मुनिपद का माहात्म्य

न च राजभयं न च चोरभयं नरलोकसुखं परलोकहितम् ।
वरकीर्त्तिकरं नरदेवनुतं श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम् ॥६५॥

अर्थ - यह मुनिपद अत्यन्त रमणीय है क्योकि इसमे न राजा का भय रहता है न चोर का भय रहता है किन्तु इसके विपरीत उत्तम कीर्त्ति को करने वाला है और मनुष्य तथा देवो के द्वारा स्तुत है ॥६५॥

मुनि कैसे होते है

परित्यक्तावृतिर्ग्रीष्मे समाप्तनियमस्थितिः ।
विहङ्ग इव निःसङ्गः केसरीव भयोज्झितः ॥६६॥

अर्थ - दिगम्बर मुनि ग्रीष्म ऋतु मे छाया आदि को आवरण से रहीत होते है, आवश्यक कार्यो मे अच्छी तरह

स्थित रहते हैं, पक्षी के समान निःसङ्ग—निष्परिग्रह रहते हैं और सिंह के समान निर्भय होते हैं ॥६६॥

मुनिपद को कौन प्राप्त होते हैं ?

ऐरण्डसदृशं ज्ञात्वा मनुष्यत्वमसारकम् ।
सङ्गेन रहिता धन्याः श्रमणात्वमुपाश्रिताः ॥६७॥

अर्थ.- भाग्यशाली मनुष्य, मनुष्य भव को ऐरण्ड के समान निःसार जानकर परिग्रह से रहित होते हुए मुनिपद को प्राप्त होता है ॥६७॥

गुरुगौरवम्

गुरु किसे कहते हैं ?

सर्वशास्त्रविदो धीराः सर्वसत्वहितङ्करः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता गुरवो गरिमान्विताः ॥६८॥

अर्थ - जो समस्त शास्त्रों के ज्ञाता हैं, धीरवीर हैं, सब प्राणियों का हित करने वाले हैं, तथा रागद्वेष से रहित हैं ऐसे गुरु ही गौरव से सहित होते हैं ॥६८॥

गुरु ही श्रेष्ठ बन्धु है

वसन्ततिलकावृत्तम्

जन्माटवीषु कुटिलासु विनष्टमार्गान्
येऽत्यन्तनिर्वृतिपथं प्रतिबोधयन्ति ।
तेभ्योऽधिकः प्रियतमो वसुधातलेऽस्मिन्
कोऽन्योऽस्ति बन्धुरपरः परिगण्यमानः ॥६९॥

अर्थ:- जो ससार रूपी कुटिल अटवियो मे मार्ग भूले हुए मनुष्यो को अविनाशी मोक्ष का मार्ग बतलाते है उनसे अधिक आदरणीय प्रियतम बन्धु इस पृथ्वीतल पर दूसरा कौन है ? ॥६९॥

गुरु वाक्य ही औषध है

मिथ्यादर्शन विज्ञान सन्निपात निपीडनात् ।
गुरुवाक्यप्रयोगेण मुच्यन्ते सर्वमानवाः ॥७०॥

अर्थ:- समस्त मनुष्य गुरुओ के वचन रूपी औषध के प्रयोग द्वारा मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान रूपी सन्निपात की बीमारी से मुक्त हो जाते है ॥७०॥

जगत मे गुरु ही रक्षक है कुटुम्बादिक नही, यह बताते है

शिखरणीच्छन्द

पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः ।

सुहृत्स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्वं परिकरः ।
निमज्जन्तं जन्तुं नरककुहरे रक्षितुमलं
गुरोर्धर्माधर्मप्रकटनपरात् कोऽपि न परः ॥७१॥

अर्थ-धर्म और अधर्म को प्रकट करने मे तत्पर गुरु के सिवाय कोई दूसरा पिता, माता, भाई, प्रिय सखी, पुत्रसमूह मित्र, स्वामी, मदोन्मत्त हाथी, योद्धा, रथ, घोडा तथा परिजन नरक रूपी गर्त मे डूबते हुए जीव की रक्षा करने मे समर्थ नही है ॥७१॥

गुरु ही नौका है

संसाराब्धौ निमग्नानां कर्मयादःप्रपूरिते ।
भविनांभव्यचित्तानां तरण्डं गुरवो मताः ॥७२॥

अर्थ-कर्मरूपी मगरमच्छो से भरे हुए ससार रूपी समुद्र मे निमग्न भव्य प्राणियो को तारने के लिये गुरु नौका सदृश माने गये है ॥७२॥

तरण तारण गुरु

वशस्थवृत्तम्

अवद्यमुक्ते पथि य प्रवर्तते, प्रवर्तयत्यन्यजनं च निस्पृह ।
स सेवितव्य स्वहितैषिणा गुरु, स्वयं तरंस्तारयितुं क्षम परम

अर्थ- जो निर्दोष मार्ग मे स्वय प्रवर्तते है तथा नि स्पृह

भाव से दूसरो को प्रवर्ताते हैं। साथ ही जो स्वय तरते हैं तथा दूसरो को तारने मे समर्थ है ऐसे गुरु आत्म हितैषीजनो के द्वारा सेवनीय हैं ॥७३॥

गुरु वचन ही पदार्थ दर्शक हैं

अज्ञानान्धतम स्तोमविध्वस्ताशेषदर्शना ।
भव्या पश्यन्ति सूक्ष्मार्थान् गुरुभानुवचोंऽशुभिः ॥७४॥

अर्थ:-अज्ञान रूपी गाढ अन्धकार के समूह से जिनकी सम्पूर्ण दृष्टि नष्ट हो गई है, ऐसे भव्य जीव गुरु रूपी सूर्य के वचन रूपी किरणो के द्वारा सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन करते है ॥७४॥

साधुओ का कषाय दमन

मालिनीछन्दः

स्मरमपि हृदि येषां ध्यानवह्निप्रदीप्ते
सकलभुवनमल्लं दह्यमानं विलोक्य ।
कृतिभिय इव नष्टास्ते कषाया न तस्मिन्
पुनरपि हि समीयु साधवस्ते जयन्ति ॥७५॥

अर्थ-ध्यान रूपो अग्नि से प्रदीप्त जिनके हृदय मे जलते हुए सकल जगत् के मल्ल कामदेव को देख कर वे क्रोधादि कषाय, मानो बहाना बनाकर ही इस तरह भाग कर खडे

कि फिर वहा नही आये, वे गुरु जयवन्त हों ॥७५॥

गुरु ही ससार समुद्र के तारक हैं

भवबाधिं तितीर्षन्ति सद्गुरुभ्यो विनापि ये ।
जिजीविषन्ति ते मूढा नन्वायुःकर्मवर्जिताः ॥७६॥

अर्थ - जो सद्गुरुओ के बिना भी ससार सागर को तैरने की इच्छा करते है वे मूर्ख आयु कर्म से रहित होकर जीवित रहने की इच्छा करते हैं ॥७६॥

गुरुओं के वचन सदा ग्राह्य हैं

गुरूणां गुरुबुद्धीनां निःस्पृहाणामनेनसाम् ।
विचारचतुरैर्वाक्यं सदा संगृह्यते बुधैः ॥७७॥

अर्थ - विशाल बुद्धि के धारक, नि:स्पृह एवं निष्पाप गुरुओ के वचन विचार निपुण विद्वानो के द्वारा सदा संग्रहीत किये जाते हैं ॥७७॥

गुरु ही मोक्ष मार्ग के प्राप्त कराने वाले हैं

वसन्ततिलका

भ्रांतिप्रदेषु बहुवर्त्मसु जन्मकक्षे
पन्थानमेकममृतस्य परं नयन्ति ।

ये लोकमुन्नतधियः प्रणमामि नित्यं
तानप्यहं गुरुवरान् शिवमार्गमिच्छुः ॥७८॥

अर्थ.- ससार रूपी अटवी मे भ्राति उत्पन्न करने वाले अनेक मार्गो मे भटके हुए मनुष्य को जो मोक्ष का एक अद्वितीय मार्ग प्राप्त कराते है, मोक्ष मार्ग का इच्छुक मैं उत्कृष्ट बुद्धि के धारक उन श्रेष्ठ गुरुओ को निरन्तर प्रणाम करता हूँ ॥७८॥

नमस्कार करने योग्य गुरु

उपजातिछन्द

अनर्घ रत्नत्रयसम्पदोऽपि निर्ग्रन्थतायाः पदमद्वितीयम् ।
जयन्ति शान्ताः स्मरवधूनां वैधव्यदास्ते गुरवो नमस्याः ॥

अर्थ - जो अमूल्य रत्नत्रय रूप सम्पदा से सहित होकर भी निर्ग्रन्थता—निष्परिग्रहता के अद्वितीय स्थान है, शान्त है तथा काम की बाधा से युक्त स्त्रियो के लिये वैधव्य प्रदान करने वाले है वे गुरु नमस्कार करने योग्य है ॥७९॥

गुरु वचन की दुर्लभता

वैभवं सकलं लोके सुलभं भववर्तिनाम् ।
तत्त्वार्थदर्शिनां तथ्यं गुरूणां दुर्लभं वचः ॥८०॥

अर्थ:- संसार मे प्राणियो को समस्त वैभव सुलभ है परन्तु

तत्थार्थ के द्रष्टा गुरुओ के सत्य वचन दुर्लभ है ॥८०॥

गुरुओ के बिना तत्वज्ञान सभव नही है

उपजाति

विना गुरुभ्यो गुणनीरधिभ्यो जानाति तत्त्वं न विचक्षणोऽपि
आकर्णपूर्णोज्ज्वललोचनोऽपि दीपं विना पश्यति नान्धकारे

अर्थ-गुण सागर गुरुओ के बिना विद्वान भी तत्व को नही जानता है सो ठीक ही है क्योकि अपने कानो तक लम्बे उज्जव नेत्रो को धारण करने वाला मनुष्य भी अन्धकार मे दीपक के बिना पदार्थ को नही देख पाता है ।।८१॥

गुरु ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं

शार्दूलविक्रीडित

अक्षस्तेनसुदुर्धरा अतिखला जीवस्य लुण्ठन्ति ये
वृत्तज्ञानगुणादिरत्ननिचितं भाण्ड जगत्तारकम् ।
तान् संनहय यतीश्वरा यमधनुश्चादाय मार्गे स्थिताः
घ्नन्ति ध्यानशरेण येऽत्र सुखिनस्ते यान्ति मुक्त्यालयम्

अर्थ जो अतिशय दुष्ट इन्द्रिय रूपी प्रबल चोर, जीवो को सम्यक् चारित्र तथा ज्ञान आदि गुणरूपी रत्नो से परिपूर्ण जगत् को तारने वाले पात्र का लूटते है उन्हे जो मुनिराज

मार्ग मे खडे हो चारित्र रूपी धनुष को लेकर तथा बांधकर ध्यान रूपी वाण के द्वारा नष्ट करते है वे ही इस ससार मे सुखी है तथा मुक्ति मन्दिर को प्राप्त होते है ।।८२।।

गुरु सङ्घ का अभिनन्दन

नक्षत्राक्षतपूरितं मरकतस्थालं विशालं नभः
पीयूषद्युतिनारिकेलकलितं सच्चन्द्रिकाचन्दनम् ।
यावन्मेरुकराग्रकङ्कणधरा धत्ते धरित्री वधू
स्तावन्नन्दतु धर्मकर्मनिरतः श्रीजैनसङ्घ क्षितौ ।।८३।।

अर्थ - मेरु पवत रूपी हस्ताग्र के ककरण को धारण करने वाली यह पृथ्वी रूपी वधू जब तक नक्षत्र रूपी अक्षतों से युक्त, चन्द्रमा रूपी नारियल से सहित एव चादनी रूपी चन्दन से सुशोभित आकाश रूपी विशाल नीलमणिमय स्थाल को धारण करती है तब तक धर्म कर्म मे लीन जैन गुरुओ का सङ्घ पृथ्वी पर आनन्द को प्राप्त हो—शिष्य प्रशिष्यो की परम्परा से वृद्धि युक्त हो ।।८३।।

वे गुरु कल्याणकारी हो

निःष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगाः पञ्चाक्षकक्षान्तका
ध्यानध्वस्तसमस्तकिल्विषविषा विद्याम्बुधेः पारगाः ।

लीलोन्मूलितकर्मकण्टकचयाः कारुण्यपुण्याशया
योगीन्द्रा भवभीमदैत्यदलनाः कुर्वन्तु ते निर्वृतिम् ॥८४॥

अर्थ.- जिन्होने मन रूपी प्रबल पक्षी को निश्चेष्ट कर दिया है, जो पञ्चेन्द्रिय रूपी वन को नष्ट करने वाले हैं, जिन्होने ध्यान के द्वारा समस्त पाप रूपी विष को नष्ट कर दिया है, जो विद्या रूपी सागर के पारगामी हैं, जिन्होंने कर्म रूपी काटो के समूह को अनायास ही उखाड दिया है, जिनका अभिप्राय दया से पुण्य रूप है, और जो संसार रूपी भयकर दैत्य को नष्ट करने वाले है ऐसे योगिराज-महामुनि तुम्हारा कल्याण करे ॥८४॥

शिष्य का लक्षण

गुरुभक्तो भवाद्भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः
शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ॥८५॥

अर्थ - जो गुरु भक्त हो, ससार से भयभीत हो, विनीत हो धर्मात्मा हो, बुद्धिमान हो शान्तचित्त हो, आलस्य रहित हो, और सभ्य हो वह शिष्य कहा जाता है ॥८५॥

गुरु से कोई ऋण रहित नही हो सकता

गुरोः सनगरग्रामां ददाति मेदिनीं यदि।
तथापि न भवत्येप कदाचिदनृणः पुमान् ॥८६॥

अर्थः- यदि गुरु के लिये नगर और ग्राम से सहित पृथ्वी को देवे तो भी पुरुष कभी ऋण रहित नही हो सकता ॥८६॥

स्याद्वादवन्दना

स्याद्वादवन्दना

स्याद्वादं सततं वन्दे सर्वप्राणिहितावहम् ।
समतामृतपूर्णं यद् विश्वभ्रान्तिहरं परम् ॥८७॥

अर्थः- जो समस्त प्राणियो का हित करने वाला है, समता रूपी अमृत से पूर्ण है तथा सब प्रकार की भ्रान्तियो को हरने वाला है उस श्रेष्ठ स्याद्वाद सिद्धान्त की मैं वन्दना करता हूं ।

अनेकान्तरवि

उपजाति

यः सर्वथैकान्तनयान्धकारं निहन्त्यवश्यं नयरश्मिजालैः ।
विश्वप्रकाशं विदधाति नित्यं पायादनेकान्तरविः स युष्मान् ॥

अर्थः- जो नय रूपी किरणों के समूह से सर्वथा एकान्तनय रूपी अन्धकार को अवश्य ही नष्ट करता है तथा जो निरन्तर समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है वह अनेकान्त रूपी रवि तुम सब की रक्षा करे ॥८८॥

जिन शासन की महिमा

शासनं जिननाथस्य भवदुःखस्य नाशकम् ।
तस्यास्ति वासना यस्य स कृती कृतिनां वरः ॥८९॥

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान् का शासन संसार के दुखो का नाश करने वाला है। जिस पुरुष के उस जिन शासन की वासना है वह कुशल एव बुद्धिमानो मे श्रेष्ठ है ॥८९॥

जिन वाक्य सुखकारी है

चन्द्रातपेन को दग्ध को मृतोऽमृतसेवया ।
जैनवाक्येन को नष्ट गुरुकोपेन को हत ॥९०॥

अर्थ - चादनी से कौन जला है ? अमृत पान से कौन मरा है ? जिन वाक्य से कौन नष्ट हुआ है ? और गुरु कोप से कौन मरा है ? ॥९०॥

गुरुनिन्दानिषेधनम्

गुरु निन्दा का फल

देवनिन्दी दरिद्रः स्याद् गुरुनिन्दी च पातकी ।
स्वामिनिन्दी भवेत्कुष्ठी गोत्रनिन्दी कुलक्षयी ॥९१॥

अर्थ - देव की निन्दा करने वाला दरिद्र होता है, गुरु की

निन्दा करने वाला पातकी होता है, स्वामी की निन्दा करने वाला कुष्ठी होता है और गोत्र की निन्दा करने वाला कुल क्षया-कुल का क्षय करने वाला होता है ॥६१॥

अविद्यमान दोषो के कथन का फल

यो भाषते दोषमविद्यमानं सतां गुणानां ग्रहणे च मूकः।
स पापभाक् स्याद् स विनिन्दकश्च यशोवध प्राणवधाद्गरीयान्।

अर्थ - जो किसी के अविद्यमान दोष को कहता है और विद्यमान गुणो के ग्रहण करने मे मूक रहता है वह पापी है तथा निन्दक है क्योकि यश का घात करना प्राणघात से कही अधिक है ॥६२॥

गुरु की निन्दा करने वाला स्वयं दोषी होता है

निन्दां य कुरुते साधोस्तया स्वं दूषयत्यसौ।
खौ भूतिं त्यजेद्यो हि मूर्ध्नि तस्यैव सा पतेत् ॥६३॥

अर्थ - जो गुरु की निन्दा करता है वह उस निन्दा के द्वारा अपने आपको दूषित करता है। जो सूर्य पर राख डालता है वह राख उसी के मस्तक पर पडती है ॥६३॥

गुरु निन्दक संसार सागर मे डूबते हैं

निमज्जन्ति भवाम्भोधौ यतीनां दोषतत्पराः।
किं चित्रं यद्भवेन्मृत्यु कालकूटनिषादनात् ॥६४॥

अर्थ:- गुरुओ के दोष खोजने मे तत्पर रहने वाले पुरुष ससार रूपी सागर मे डूबते है सो ठीक ही है क्योंकि कालकूट विष के खाने से यदि मृत्यु होती है इसमे क्या आश्चर्य है ?

गुरु निन्दा से निन्द्यगति प्राप्त होती है

वीतरागे मुनौ शस्ते यो द्वेषं कुरुतेऽधमः ।
धर्मवद्भिर्जनैः सोऽपि निन्द्यो निन्द्यगतिं व्रजेत् ॥६५॥

अर्थ - जो अधम पुरुष राग द्वेष से रहित उत्तम मुनि से द्वेष करता है वह धर्मात्माजनों के द्वारा निन्दित होता है तथा स्वय निन्द्यगति को प्राप्त होता है ॥६५॥

अनिन्दनीय की निन्दा नरक का कारण है

निन्दनीयेषु का निन्दा स्वभावो गुणकीर्तनम् ।
अनिन्द्येषु च या निन्दा सा निन्दा नरकावहा ॥६६॥

अर्थ निन्दनीय लोगो की क्या निन्दा करना है ? उनकी निन्दा तो स्वय प्रकट है। मनुष्य का स्वभाव तो गुणों का कीर्तन होना चाहिये। अनिन्दनीय लोगो की जो निन्दा है वह नरक को प्राप्त कराने वाली है ॥६६॥

नीतिज्ञ मनुष्य किनकी निन्दा नही करते है ?

रथाद्धताच्छन्दः

स्वामिनं सुहृदमिष्टसेवकं वल्लभामनुजमात्मजं गुरुम् ।
मातरं च जनकं च बान्धवं दूषयन्ति नहि नीतिवेदिनः ॥

अर्थः- नीति के जानने वाले मनुष्य, स्वामी, मित्र, इष्ट सेवक, स्त्री, छोटा भाई, पुत्र, गुरु, माता, पिता, और भाई की निन्दा नही करते ॥९७॥

मुनि निन्दा निगोद का कारण है

भुक्त्वा दुःखशतान्युच्चैः सर्वासु श्वभ्रभूमिषु ।
निगोतेऽभिपतन्त्येते यतिदोषपरायणाः ॥९८॥

अर्थः- मुनियो के दोष खोजने मे तत्पर रहने वाले मनुष्य नरक की समस्त पृथिवीयो मे सैकड़ो दुःख भोगकर निगोद में पड़ते है ॥९८॥

सम्यग्दर्शन प्रशंसा

सम्यग्दर्शन परम धर्म है

दर्शनं परमो धर्मो दर्शनं शर्म निर्मलम् ।
दर्शनं भव्यजीवानां निर्वृतेः कारणं परम् ॥९९॥

अर्थः- सम्यग्दर्शन परम धर्म है, सम्यग्दर्शन निर्मल सुख है

और सम्यग्दर्शन भव्य जीवो के निर्वाण का कारण है ॥९९॥

सम्यग्दर्शन रहित साधु निन्दनीय है

दृष्टिहीनो भवेत्साधुः कुर्वन्नपि तपो महत् ।
दृग्विशुद्धैः सुरैर्मर्त्यैर्निन्दनीयः पदे पदे ॥१००॥

अर्थ:- सम्यग्दर्शन से रहित साधु महान् तप करता हुआ भी सम्यग्दृष्टि देवो और मनुष्यो के द्वारा पद पद पर निन्दनीय होता है ॥१००॥

सम्यग्दर्शन सहित गृहस्थ प्रशसनीय है

सम्यग्दृष्टिर्गृहस्थोऽपि कुर्वन्नारम्भमञ्जसा ।
पूजनीयो भवेल्लोके नृनाकिरातिभिः स्तुतः ॥१०१॥

अर्थ:- सम्यग्दृष्टि मनुष्य गृहस्थ होने पर भी तथा प्रशस्त आरम्भ करने पर भी लोक मे मनुष्यो और इन्द्रो के द्वारा पूजनीय एव स्तवनीय होता है ॥१०१॥

सम्यक्त्व के विना देव भी स्थावर होते हैं

सम्यक्त्वेन विना देवा आर्तध्यानं विधाय ये ।
दिवश्च्युत्वा प्रजायन्ते स्थावरेष्वत्र तत्फलात् ॥१०२॥

अर्थ:- सम्यक्त्व के विना देव आर्तध्यान कर उसके फल स्वरूप स्वर्ग से च्युत हो स्थावर जीवो मे उत्पन्न होते है ॥

सम्यग्दर्शन से मनुष्य तीर्थंकर होता है

यतः श्वभ्राद्विनिर्गत्य क्षपित्वा प्राक्तनाशुभम् ।
सम्यग्दर्शनमाहात्म्यात्तीर्थनाथो भवेत्सुधीः ॥१०३॥

अर्थः- सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भेद विज्ञानी प्राणी नरक से निकल कर तथा पहले के अशुभ कर्मों को खिपा कर तीर्थङ्कर होता है ॥१०३॥

सम्यक्त्व के साथ नरक का वास भी अच्छा है

सम्यक्त्वेन समं वासो नरकेऽपि वरं सताम् ।
सम्यक्त्वेन विना नैव निवासो राजते दिवि ॥१०४॥

अर्थ - सम्यक्त्व के साथ सत्पुरुषों का नरक वास भी अच्छा है और सम्यक्त के बिना स्वर्ग का निवास भी शोभा नहीं देता ॥१०४॥

सम्यक्त्व से ही जन्म सफल है

तस्यैव सफलं जन्म मन्येऽहं कृतिनो भुवि ।
शशाङ्कनिर्मलं येन स्वीकृतं दर्शनं महत् ॥१०५॥

अर्थ - जिसने चन्द्रमा के समान निर्मल उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन स्वीकृत किया है पृथ्वी पर मैं उसी कुशल मनुष्य के जन्म

को सफल मानता हूं ।

सम्यग्दर्शन के धारक जीव ही धन्य हैं

धन्यास्त एव संसारे बुधैः पूज्याः सुरैः स्तुताः ।
दृष्टिरत्नं न यैर्नीतं कदाचिन्मल सन्निधौ ॥१०६॥

अर्थ.- ससार मे वे ही धन्य हैं, वे ही विद्वानो के द्वारा पूज्य है और वे ही देवो के द्वारा स्तुत्य हैं जिन्होने सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को कभी मलिन नही होने दिया ॥१०६॥

सम्यग्दर्शन को कभी मलिन नही करना चाहिये

मत्वेति दर्शनं जातु स्वप्नेऽपि मलसन्निधिम् ।
निर्मलं मुक्ति सोपानं न नेतव्यं शिवार्थिभिः ॥१०७॥

अर्थ - यह जानकर मोक्ष के अभिलाषी पुरुषो को मुक्ति की सीढी स्वरूप निर्मल सम्यग्दर्शन को कभी स्वप्न मे भी मल के समीप नही ले जाना चाहिये ॥१०७॥

मलिन सम्यग्दर्शन से मुक्ति की प्राप्ति नही होती

मलिने दर्पणे यद्वत्प्रतिबिम्बं न दृश्यते ।
सदोषे दर्शने तद्वन्मुक्तिस्त्रीवदनाम्बुजम् ॥१०८॥

अर्थ - जिस प्रकार मलिन दर्पण मे प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता उसी प्रकार मलिन सम्यग्दर्शन मे मुक्ति रूपी स्त्री का मुख कमल नही दिखाई देता ॥१०८॥

सम्यग्दर्शन का ऐहलौकिक और पारलौकिक फल

इन्द्राहमिन्द्रतीर्थेश लौकान्तिकमहात्मनाम् ।
बलादीनां पदान्यत्र महान्ति च सुरालये ॥१०६॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन के प्रभाव से इस लोक और परलोक मे इन्द्र, अहमिन्द्र,, तीर्थकर लौकान्तिक देव तथा बलभद्र आदि के बडे बडे पद प्राप्त होते है ॥१०६॥

सम्यग्दर्शन सब पापो को नष्ट करने वाला है

वसन्तलिका

पापं यदर्जितमनेकभवैर्दुरन्तं
सम्यक्त्वमेतदखिलं महसा हिनस्ति ।
भस्मीकरोति सहसा तृणकाष्ठराशिं
किं नोर्जितोज्ज्वलशिखो दहनः समृद्धः ॥११०॥

अर्थ:- अनेक भवो मे जो दुरन्त—दुःखदायी पाप का सचय होता है उस सब को यह सम्यग्दर्शन शीघ्र ही नष्ट कर देता है सो ठीक ही है क्योकि प्रचण्ड और उज्ज्वल ज्वालाओ से युक्त देदीप्यमान अग्नि क्या तृण और काष्ठ की राशि को सहसा भस्म नही कर देती ?

सम्यग्दर्शन से बढकर सुख नही है

दर्शनबन्धो न परो बन्धुर्दर्शनलाभान्न परो लाभः ।
दर्शनमित्रान्न परं मित्रं दर्शनसौख्यान्न पर सौख्यम् ॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन रूपी बन्धु से बढकर दूसरा बन्धु नही है, सम्यग्दर्शन रूपी लाभ से बढकर दूसरा लाभ नही है, सम्यग्दर्शन रूपी मित्र से बढकर दूसरा मित्र नही है और सम्यग्दर्शन रूपी सुख से बढकर दूसरा सुख नही है ॥१११॥

सम्यग्दर्शन से बढकर बन्धु नही है

सम्यक्त्वान्नापरो बन्धुः स्वामी विश्वहितंकरः ।
स्वर्गमुक्तिकरः पुंसां पापघ्नश्च वृषप्रदः ॥११२॥

अर्थ - मनुष्यो का सम्यग्दर्शन से बढकर दूसरा बन्धु नही है, सम्यग्दर्शन से बढकर दूसरा सर्व हितकारी स्वामी नही है, और सम्यग्दर्शन से बढकर दूसरा स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त कराने वाला, पापापहारी धर्म दायक नही है ॥११२॥

सम्यक्त्व रूपी चिन्तामणि की विशेषता

केवलं धनमत्रैव सुखं दुःखं ददात्यहो ।
सम्यक्चिन्तामणि विश्वसुखं लोकत्रये सताम् ॥११३॥

अर्थ - धन तो केवल इसी लोक मे सुख और दुःख देता है

परन्तु सम्यक्त्व रूपी चिन्तामणि तीनो लोको मे सत्पुरुषो को समस्त सुख प्रदान करता है ॥११३

सम्यग्दृष्टि ही मोक्ष मार्ग मे स्थित है

मुक्तिमार्गस्थमेवाहं तं मन्ये पुरुषोत्तमम् ।
भोक्तार त्रिजगल्लक्ष्म्याः स्वीकृतं येन दर्शनम् ॥११४॥

अर्थ: जिसने सम्यग्दर्शन स्वीकृत किया है मै उसी पुरुषोत्तम को मोक्ष के मार्ग मे स्थित तथा तीन जगत् की लक्ष्मी का भोगने वाला मानता हूँ ॥११४॥

सम्यग्दृष्टि ही यहा धनी है

महाधनी स एवात्र मतो दक्षैः परत्र च ।
अनर्घ्यदृष्टि सद्रत्न हृदि यस्य विराजते ॥११५॥

अर्थ:- जिसके हृदय मे सम्यग्दर्शन रूपी अमूल्य रत्न सुशोभित है वही चतुर मनुष्यो के द्वारा इस लोक तथा परलोक मे महाधनी माना गया है ॥११५॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का मूल

ज्ञानचारित्रयोर्मूलं दर्शनं भाषितं जिनैः ।
सोपान प्रथमं मुक्तिधाम्नो बीजं वृषस्य च ॥११६॥

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान् ने सम्यग्दर्शन को ज्ञान और

चरित्र का मूल मोक्ष महल की पहली सीढी और धर्म का बोज कहा है। ॥११६॥

सम्यक्त्वान् की पहिचान

क्षमावैराग्यसन्तोषदयावान् विषयातिगः ।
कषायमदसंहारी सम्यक्त्वभूषणो भवेत् ॥११७॥

अर्थ - जो क्षमा वैराग्य संतोष और दया से सहित है, विषयो से परे है तथा कषायरूपी मद का सहरण करने वाला है वही सम्यक्त्व रूपो आभूषण से सहित होता है।

क्षमा प्रशंसा

क्षमावान् का दुर्जन क्या कर सकता है ?

सत्यदुर्गसमारूढं शीलप्राकारवेष्टितम् ।
क्षमाखड्गयुतं नित्यं दुर्जनः किं करिष्यति ॥११८॥

अर्थ - जो सत्यरूपी किले पर चढा हुआ है, जो शील रूपी कोट से घिरा हुआ है तथा जो सदा क्षमारूपी खड्ग से सहित है दुर्जन उसका क्या कर सकता है। ॥११८॥

अकारण द्वेषी को सतुष्ट करना कठिन है

निमित्तमुद्दिश्य हि य प्रकुप्यति ध्रुवं सतस्यापगमे प्रसीदति ।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै कथं जनां त परितोषयिष्यति

अर्थः- जो किसी कारण को लेकर कुपित होता है वह निश्चय ही उस कारण के दूर हो जाने पर प्रसन्न हो जाता है परन्तु जिसका मन बिना कारण ही द्वेष करता है उसे किस प्रकार सतुष्ट किया जा सकता है ॥११६॥

क्षमारूप खड्ग की महिमा

क्षमाखड्ग करे यस्य दुर्जनः कि करिष्यति ।
अतृणे पतितो वन्हि· स्वयमेवोपशाम्यति ॥ १२० ॥

अर्थः- क्षमा रूपी खड्ग जिसके हाथ मे हो उसका दुर्जन क्या कर लेगा ? क्योकि तृणरहित स्थान पर पडी हुई अग्नि स्वय ही शान्त हो जाती है ॥१२०॥

मुनियो का सम्बल क्षमा है

कस्यचित्सम्बलं विद्या कस्यचित्सम्बलं धनम् ।
कस्यचित्सम्बलं मार्त्यं मुनीनां सम्बलं क्षमा ॥ १२१ ॥

अर्थः- किसी का सम्बल (नाश्ता) विद्या है, किसी का

सम्बल धन है, किसी का सम्बल मनुष्यता है और मुनियो का सम्बल क्षमा है ॥१२१॥

सबल निर्बल पर कोप नही करते

यद्यपि रटति सरोषो मृगपतिपुरतोऽपि मत्तगोमायुः ।
तदपि न कुप्यति सिंहो ह्यसदृशि पुरुषे कुतः कोपः ॥१२२॥

अर्थ- यद्यपि क्रोध से युक्त मत्त शृगाल सिह के सामने भी शब्द करता है तथापि सिह कुपित नही होता सो ठीक है, क्योकि अपनी समानता न रखने वाले पुरुष पर क्रोध कैसे किया जा सकता है ? ॥१२२॥

क्षमा ही आभूषण है

सुतबन्धुपदातीना-मपराधशतान्यपि ।
महात्मानः क्षमन्ते हि तेषां तद्धि विभूषणम् ॥ १२३ ॥

अर्थ-महात्मा पुरुष पुत्र, बन्धु और सेवक आदि से सैकडो अपराध क्षमा करते है, सो ठीक ही है क्योकि क्षमा उनका आभूषण है ॥१२३॥

क्षमा करोडो ध्यान के समान हैं

पुण्यकोटीसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः ।
जपकोटीसमं ध्यानं ध्यानकोटीसमा क्षमा ॥ १२४॥

अर्थ.- भगवान का स्तोत्र करोडो पुण्यकार्यो के समान है जप करोडो स्तोत्रो के समान है, ध्यान करोडो जपो के समान है और क्षमा करोडो ध्यानो के समान है ॥१२४॥

शान्तात्मा का लक्षण

कालुष्यकारणे जाते दुर्निवारे गरीयसि ।
नान्तः क्षुभ्यति कस्मैचिच्छान्तात्माऽसौ निगद्यते॥१२५॥

अर्थ - कलुषता का बहुत भारी दुर्निवार कारण उपस्थित होने पर भी जो अन्तरङ्ग मे किसी से क्षोभ नही करता वह शान्तात्मा कहलाता है। ॥१२५॥

क्षमा से कर्म क्षय होते है

क्षमया क्षीयते कर्म दुःखदं पूर्वसञ्चितम् ।
चित्तञ्च जायते शुद्धं विद्वेषभयवर्जितम् ॥१२६॥

अर्थ.- क्षमा से पूर्व सचित दु खदायी कर्म क्षीण हो जाते है तथा हृदयद्वेष और भय से रहित होकर शुद्ध हो जाता है।

तपस्वियो का रूप क्षमा है

पातिव्रत्यं स्त्रिया रूपं पिकीनां रूपकं स्वरः ।
विद्यारूपं कुरूपाणां क्षमारूपं तपस्विनाम् ॥१२७॥

अर्थ - स्त्री रूप पतिव्रत्य धर्म है, कोकिलाओ का रूप स्वर है, कुरूप मनुष्यो का रूप विद्या है और तपस्वियो का रूप क्षमा है ॥१२७॥

क्षमावान् मनुष्यो का एक दोष (?)

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपलभ्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥१२८॥

अर्थ क्षमावान मनुष्यो का एक ही दोष उपलब्ध है दूसरा नही, वह यह कि क्षमा से युक्त मनुष्य को लोग असमर्थ समझते हैं ॥१२८॥

क्षमा से क्या साध्य नही है ?

क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ।
क्षमा वशीकृतो लोकः क्षमया किं न साध्यते ॥१२९॥

अर्थ - क्षमा असमर्थ मनुष्यो का बल है, और समर्थ मनुष्यों का आभूषण है। सारा संसार क्षमा से वश मे हो जाता है सो ठीक है क्षमा से क्या नही सिद्ध होता ? ॥१२९॥

क्षमा ज्ञान का आभरण है

नरस्याभरणं रूपं, रूपस्याभरणं गुणः ।
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा ॥१३०॥

अर्थः- मनुष्य का आभरण रूप है, रूप का आभरण गुण है, गुण का आभरण ज्ञान है और ज्ञान का आभरण क्षमा है।

क्षान्ति मनुष्यो का हित करने वाली है

क्षान्तिरेव मनुष्याणां मातेव हितकारिणी ।
माता कोपं समायाति क्षान्तिर्नैव कदाचन् ॥१३१॥

अर्थः- क्षमा ही मनुष्यो का माता के समान हित करने वाली है। विशेषता यह है कि माता तो कभी क्रोध को प्राप्त हो जाती है, परन्तु क्षमा कभी भी क्रोध को प्राप्त नही होती है।

क्षमा ही कार्य को सिद्ध करती है ।

यत्क्षमी कुरुते कार्यं न क्रोधस्य वशं गतः ।
कार्यस्य साधिनी बुद्धिः सा च क्रोधेन नश्यति ॥१३२॥

अर्थः- क्षमावान् मनुष्य जो कार्य करता है उसे क्रोधीमनुष्य नही कर सकता, क्योकि कार्य को सिद्ध करने वाली बुद्धि है, और बुद्धि क्रोध से नष्ट हो जाती है ॥१३२॥

क्षमा क्रोध को पराजित करती है

क्रोधयोधः कथंकारमहंकारं करोत्ययम् ।
लीलयैव पराजिग्ये क्षमया रामयापि यः ॥१३३॥

अर्थः- यह क्रोध रूपी सुभट अहंकार क्यों करता है, जब कि वह स्त्री रूप (स्त्री लिंग) क्षमा के द्वारा अनायास ही पराजित हो चुका है ॥१३३॥

मूर्ख अपराधी क्षमा के पात्र हैं

अबुद्धिमाश्रितानां च क्षन्तव्यमपराधिनाम्
न हि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषे क्वचित्॥१३४॥

अर्थः- मूर्ख अपराधियों को क्षमा करना चाहिये। क्योंकि सभी पुरुषों में, कहीं भी पाण्डित्य सुलभ नहीं है ॥१३४॥

क्रोध का पात्र क्रोध है

अपकारिणि चेत्क्रोधः, क्रोधे क्रोधः कथं न ते।
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि ॥१३५॥

अर्थः- यदि अपराधी पर क्रोध करना है तो धर्म, अर्थ काम और मोक्ष--चारों के विरोधी क्रोध पर तुझे क्रोध क्यों नहीं आता है? ॥१३५॥

—:—

क्रोध निन्दा

क्रोध ही प्रथम शत्रु है

उपजाति छन्द.

क्रोधो हि शत्रुः प्रथमो नराणां, देहस्थितो देहविनाशहेतुः ।
अग्निर्यथा काष्ठगतोऽपि गूढः, स एव काष्ठं दहतीह नित्यम्

अर्थ.- क्रोध ही मनुष्यो का सबसे पहला शत्रु, है क्योकि वह शरीर मे स्थित होता हुआ ही शरीर के नाश का कारण है। जैसे जो अग्नि काष्ठ मे स्थित होकर छिपी रहती है, वही इस ससार मे निरन्तर काष्ठ को जलाती है ॥१३६॥

क्रोध अनर्थ का मूल है

क्रोधो मूलमनर्थानां, क्रोधः संसारवर्धनः ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं विवर्जयेत् ॥१३७॥

अर्थ- क्रोध अनर्थो का मूल है, क्रोध ससार को बढाने वाला है और क्रोध धर्म का क्षय करने वाला है। इसलिये क्रोध को छोड देना चाहिये ॥१३७॥

पीछे दुःख, शोक आदि अन्य दुर्गतियो को भी देता है ॥१४०॥

क्रोध को छोडने का उपदेश

तावत्तपो व्रतं ध्यानं स्वस्थचित्तं दयादिकम् ।
यावत्क्रोधो न जायेत तस्मात्क्रोधं त्यजेन्मुनिः ॥१४१॥

अर्थ - व्रत, ध्यान, स्वस्थ चित्त तथा दया आदिक तभी तक रहते है जब तक क्रोध उत्पन्न नही होता इसलिये मुनि को क्रोध छोड देना चाहिये ॥१४१॥

क्रोध रूप शत्रु दोनो लोको का विनाशक है

लोकद्वयविनाशाय पापाय नरकाय च ।
स्वपरस्यापकाराय क्रोधशत्रुः शरीरिणाम ॥१४२॥

अर्थ - क्रोधरूपी शत्रु मनुष्यो के दोनो लाको के विनाश के लिये, पाप के लिये, नरक के लिये तथा निज और पर के अपकार के लिये है ॥१४२॥

क्रोध के तीन भेद

उत्तमस्य क्षणं कोपो मध्यस्य प्रहरद्वयम् ।
अधमस्य त्वहोरात्रं पापिष्ठस्य सदा भवेत् ॥१४३॥

अर्थः- उत्तम मनुष्य का क्रोध क्षण भर ठहरता है, मध्यम

पुरुष का दो प्रहर ठहरता है, नीच का दिन-रात ठहरता है और अत्यन्त पापी मनुष्य का क्रोध सदा ठहरता है ।।१४३।।

क्रोध के प्रति क्रोध क्यो नही करते ?

अपकुर्वति कोपश्चेत् किं कोपाय न कुप्यति ।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने ।।१४४।।

अर्थ - यदि अपकार करने वाले पर क्रोध किया जाता है तो त्रिवर्ग को, मोक्ष को और जीवन को नष्ट करने वाले क्रोध पर क्यो नही क्रोध करते हो ।।१४४।।

क्रोध के समान दूसरा शत्रु नही है

वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति
रूपं विरूपयति निन्द्यमतिं तनोति ।
दौर्भाग्यमानयति शातयते च कीर्त्तिं
लोकेऽत्र रोषसदृशो न हि शत्रुरस्ति ।।१४५।।

अर्थ - वैर को बढाता है, मित्रता को दूर करता है, रूप को विरूप करता है, निन्दितबुद्धि-दुर्बुद्धि को विस्तृत करता है, दौर्भाग्य को लाता है और कीर्ति को नष्ट करता है सच-मुच ही इस ससार मे क्रोध के समान दूसरा शत्रु नही है ।

असमर्थ मनुष्य का क्रोध क्या कर सकता है ?

यस्य रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनागमः ।
निग्रहानुग्रहौ न स्तः स रुष्टः किं करिष्यति ॥१४६॥

अर्थ - जिसके क्रुद्ध होने पर भय नही होता और सतुष्ट होने पर धन की प्राप्ति नही होती इस तरह जिसमे निग्रह और अनुग्रह करने की क्षमता नही हैं वह क्रुध होकर क्या करेगा ? ॥१४६॥

किनको कुपित नही करना चाहिये ?

सूपकारं कविं वैद्यं वन्दिनं शस्त्रपाणिकम् ।
स्वामिनं धनिनं मूर्खं मर्मज्ञं न च कोपयेत् ॥१४७॥

अर्थ - रसोइया, कवि, वैद्य, बन्दी, हथियार हाथ मे लिए हुए, स्वामी, धनी मूर्ख और मर्म को जानने वाला, इतने मनुष्यो को कुपित नही करना चाहिये ॥१४७॥

स्त्री स्वार्थ से ही पति को स्मरण करती है

शोचन्ते न मृतं कदापि वनिता यद्यस्ति गेहे धनं
तच्चेन्नास्ति रुदन्ति जीवनाधया स्मृत्वा पुनः प्रत्यहम् ।
तन्नामापि च विस्मरन्ति कतिभिर्मासैर्दिनैर्वीन्धवाः
कृत्वा तद्दहनक्रियां निजनिजव्यापारचिन्ताकुलाः ॥१४८॥

अर्थ - यदि घर मे धन है तो स्त्रिया मरे हुए पति के प्रति कभी शोक नही करती। यदि धन नही है तो आजीविका की वृद्धि से प्रति-दिन वार वार स्मरण कर रोती हैं फिर कुछ महीनो मे उसका नाम भी भूल जाती हैं। इस प्रकार भाई भी उसकी दाहक्रिया कर अपने अपने कार्य की चिन्ता म निमग्न हो कुछ दिनो मे उसका नाम भूल जाते हैं ॥६४६॥

नोट — यह श्लोक स्वार्थपरता प्रकरण का है।

—:○:—

मान निषेधनम्

मानी क्या करता है ?

कार्यं कृन्तति सद्गुणांस्तिरयति क्लेशं करोत्यात्मना
मर्तुं वाञ्छति ना तनोत्यविनयं लोकस्थितिं प्रोज्झति।
मान्यं द्वेष्टि जनं विमुञ्चति नयं शेते न भुङ्क्ते सुखं
मानी मानवशेन कष्टपतितः पापं चिनोत्याततम् ॥१४९॥

अर्थ - मानी मनुष्य काय को छेदता है, सद्गुणो को छिपाता है, अपने आप क्लेश करता है मरने की इच्छा करता है, अविनय को विस्तृत करता है, लोक मर्यादा को छोडता है,

माननीयजनों के प्रति द्वेष करता है, नीति को छोडता है न सोता और न सुख से खाता है इस तरह मानो मनुष्य मान के वश कष्ट मे पड कर अत्यधिक पाप का सचय करता है।

मान का फल

यो मदान्धो न जानाति हिताहितविवेकताम् ।
स पूज्येषु मदं कृत्वा नरो भवति गर्दभः ॥१४६॥

अर्थ - जो मद से अन्धा होकर हित और अहित के विवेक को छोड देता है वह मनुष्य पूज्य पुरुषो के विषय मे मद करके गधा होता है ॥१४६॥

मान छोडने का उपदेश देने वाले स्वय मान करते है

आदिशान्ति परांश्चेति त्याज्यो मानकषायकः ।
स्वयं जैनगृहं दृष्ट्वा बहिस्तिष्ठन्ति नीचवत् ॥१५०॥

अर्थ - कितने ही लोग दूसरो को तो उपदेश देते है कि मान कषाय छोड़ने के योग्य है परन्तु जैन मन्दिर को देखकर स्वय नीच की तरह बाहर खडे रहते है ॥१५०॥

विनय का फल

समस्तसपदां सङ्ग विदधाति वशं स्वकम् ।
चिन्तामणिरिवाभीष्टं विनयः कुरुते न किम् ॥१५१॥

अर्थ - विनयी मनुष्य समस्त सपदाओ के समूह को अपने वश कर लेता है सो ठीक है क्योकि विनय चिन्तामणि के समान क्या नही करता है ? ॥१५१॥

—卐—

माया निन्दा

माया नरक का कारण है

अर्थादौ प्रचुरप्रपञ्चरचनैर्ये वञ्चयन्ते परान्
नूनं ते नरकं व्रजन्ति पुरतः पापिव्रजादन्यतः ।
प्राणाः प्राणिषु तन्निबन्धनतया तिष्ठन्ति नष्टे धने
यावान् दुःखभरो नृणां न मरणे तावानिह प्रायशः॥१५२॥

अर्थ:- धन आदि के विषय मे जो लोग बहुत भारी छल कपट करके दूसरे लोगो को ठगते हैं वे दूसरे पापियो से पहले निश्चित ही नरक जाते है क्योकि प्राणी धन को प्राणों का कारण होने से प्राण समझते हैं और धन के नष्ट होने पर मनुष्यों को जितना दु:ख होता है उतना प्राय मरण में भी नही होता ॥१५२॥

मायावियो के सब अनुष्टान व्यर्थ हैं

कूटद्रव्यमिवासारं तपो धर्मव्रतादिकम् ।
मायाविनामनुष्ठानं सर्वं भवति निष्फलम् ॥१५३॥

अर्थ:- मायावी मनुष्यो के तप, धर्म तथा व्रतादिक कूट द्रव्य-निर्माल्य के समान सार रहित है इसी तरह मायावी मनुष्यो के सब अनुष्ठान निष्फल है ॥१५३॥

मायावी का गुप्त पाप स्वय प्रकट होना है

मयां करोति यो मूढ, इन्द्रियादिकसेवने ।
गुप्तपापं स्वयं तस्य व्यक्तं भवति कुष्ठवत् ।।१५४॥

अर्थ - जो मूर्ख इन्द्रियादिक के सेवन मे माया करता है उसका गुप्त पाप कुष्ठ के समान स्वय प्रकट हो जाता है ।

माया युक्त वचन त्याज्य है

मायायुक्तं वचस्त्याज्यं माया संसारवर्धिनी ।
यदि सङ्गपरित्यागः कृतः किं मायया तव ॥१५५॥

अर्थ:- मायायुक्त वचन छोडने योग्य है क्योकि माया ससार को बढाने वाली है । हे मुने ! यदि तूने परिग्रह का त्याग किया है तो तुझे माया से क्या प्रयोजन है ? ॥१५५॥

माया मनुष्य को स्त्री बना देती है

दौर्भाग्यजननी माया माया दुर्गतिवर्तनी ।
नृणां स्त्रीत्वप्रदा माया ज्ञानिभिस्त्यज्यते ततः ॥१५६॥

अर्थ - माया दौर्भाग्य को उत्पन्न करने वाली है, माया दुर्गति मे ले जाने वाली है, और माया मनुष्यो को स्त्रीपर्याय प्रदान करने वाली है इसलिये उसका त्याग किया जाता है।

माया के दोष

स्त्रैणषण्ढत्वतैरश्चनीचगोत्रपराभवाः ।
मायादोषेण लभ्यन्ते पुसां जन्मनि जन्मनि ॥१५७॥

अर्थ- स्त्रीत्व, नपुसकत्व, त्रियञ्चगति, नीच गोत्र और पराभव ये सब मनुष्यो को माया के दोष से भवभव मे प्राप्त होते है ॥१५८॥

मुनि मायारूपी लता को ज्ञानरूपी शस्त्र से छेदते है

आर्या

मायावल्लिमशेषां मोहमहातरुवरसमारूढाम् ।
विषयविषपुष्पसहितां लुनन्ति मुनयो ज्ञानशस्त्रेण।१५८।।

अर्थ - मोहरूपी महावृक्ष के ऊपर चढी हुई तथा विषयरूपी विष पुष्प के सहित मायारूपी समस्तलता को मुनि ज्ञानरूपी शस्त्र के द्वारा छेदते है ॥१५९॥

तृष्णा निन्दा

लोभी को सुख नहीं होता

न सुखं धनलुब्धस्य न धर्मो दुष्टचेतसः ।
न चार्थो भाग्यहीनस्य ह्यौषधं न गतायुषः ॥१५६॥

अर्थ धन के लोभी को सुखनही होता, दुष्ट चित्त वाले मनुष्यो से धर्म नही होता, भाग्यहीन को धन नही मिलता और जिसकी आयु समाप्त हो जाती है उसे औषधि नही लगती ।

आशा को नष्ट करने वाले ही धन्य है

धन्यास्त एव यैराशाराक्षसी प्रहता भुवि ।
सन्तोषयष्टिमुष्ट्याद्यैः सुखिनो जगदर्चिताः ॥१६०॥

अर्थ - जिन्होने इस पृथ्वी पर सतोषरूपी लाठी तथा मुक्के आदि के द्वारा आशारूपी राक्षसी को नष्ट कर दिया है वे ही धन्य है, वे ही सुखी है तथा वे ही जगत् के द्वारा पूज्य हैं ।

तृष्णा एक लता है

यस्या बीजमहंकृतिर्गुरुतरा मूलं ममेति ग्रहो ।
नित्यत्वस्मृतिरङ्कुरः सुतसुहृज्जात्यादयः पल्लवाः ।

स्कन्धो दारपरिग्रहः परिभवः पुष्पं फलं दुर्गतिः
सा मे त्वल्ललितांघ्रिणा परशुना तृष्णालता लूयताम्॥१६१॥

अर्थ- बहुत भारी अहकार जिसका बीज है, ममताभाव जिसकी जड है। नित्यपना का स्मरण जिसका अङ्कुर है, पुत्र, मित्र तथा कुटुम्ब आदि जिसके पल्लव है, स्त्री जिसका स्कन्ध है, तिरस्कार जिसका पुष्प है और दुर्गति जिसका फल है, ऐसी तृष्णारूपी लता हे भगवन्! आपके सुन्दर चरणरूपी परशु के द्वारा छिन्न भिन्न हो? ॥१६१॥

आशा एक शृङ्खला है

आशा नाम मनुष्याणां काचि दाश्चर्यशृङ्खला।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत् ॥१६२॥

अर्थ:- आशा मनुष्यो के लिये एक विचित्र शृङ्खला है जिसके द्वारा बधे हुए मनुष्य दौडते है और जिससे छूटे हुए पङ्गु के समान स्थित रहते है ॥१६२॥

आशा के दास सब के दास है

आर्या

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥१६३॥

अर्थ.- जो आशा के दास है वे सब ससार के दास है और आशा जिनकी दासी है सब ससार उनका दास है ।।१६४।।

आशा एक नदी है

शार्दूल विक्रीडितच्छन्द

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।।१६५।।

अर्थः– जिसमे मनोरथ रूपी जल भरा है, जो तृष्णा रूपी तरङ्गो से व्याप्त है, जो राग रूपी मगरमच्छो से सहित है, जिसमे वितर्क–विकल्प रूपी पक्षी है, जो धैर्य रूपी वृक्ष को उखाडने वाली है, जो मोह रूपी कठिन भावर से व्याप्त है और चिन्ता ही जिसके ऊचे किनारे है ऐसी आशा नाम की नदी है । विशुद्ध हृदय वाले जो मुनिराज उस आशा रूपी नदी के उस पार पहुँच जाते है वे ही सुखी है ।।१६५।।

आशा एक गर्त है

आशागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ।।१६६।।

अर्थ:- प्रत्येक प्राणी के सामने आशारूपी ऐसा गड्ढा है जिसमे सारा ससार एक अणु के समान हैं फिर किसके लिये कितना प्राप्त हो मकता है, इसलिये हे भव्यजनो ! तुम्हारी विषयो की इच्छा व्यर्थ है ॥१६६॥

तृष्णा धनिको को घुमाती है

तृष्णादेवि नमस्तुभ्यं यया वित्तान्विता अपि ।
अकृत्येषु नियोज्यन्ते भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि ॥१६७॥

अर्थ - हे तृष्णादेवि ! तुम्हे नमस्कार हो, जिसके द्वारा धनिक लोग भी खोटे कार्यों मे लगाये जाते है और दुर्गम स्थानो मे घुमाये जाते हैं ॥१६७॥

धनादिक से कभी कोई सतुष्ट नहीं हुआ

धनेषु जीवितव्येषु स्त्रीषु भोजनवृत्तिषु ।
अतृप्ता मानवाः सर्वे याता यास्यान्ति यान्ति च ॥१६८॥

अर्थ - धन, जोवन, स्त्री और भोजन के विषय मे सभी लोग असंतुष्ट होकर ही गये है, और जावेंगे और जा रहे हैं।

पतिव्रता स्त्री की तरह तृष्णा साथ नही छोडती

च्युता दन्ता सिता केशा वाग्रोध· स्यात् पदे पदे ।
पातसज्जमिदं देहं तृष्णा साध्वी न मुञ्चति ।।१६९॥

अर्थः- दात गिर गये, बाल सफेद हो गये वाणी मे रुकावट आ गई और पद पद पर शरीर गिरने को हो गया, फिर भी तृष्णारूपी पतिव्रता स्त्री साथ नही छोडती ॥२६६॥

इच्छा उत्तरोत्तर बढती है

इच्छति शती सहस्रं सहस्री चापि लक्षमीहते कर्तुम् ।
लक्षाधिपश्च राज्यं राज्ये सति सकलचक्रवर्तित्वम् ॥१७०॥

अर्थः- सो रुपये का धनी हजार चाहता है, हजार का धनी लाख करना चाहता है, लाख का धनी राज्य चाहता है और राज्य होने पर पूर्ण चक्रवर्तिपना चाहता है ॥१७०॥

क्लेश का सागर कौन तैरते हैं

धन्याः पुण्यभाजस्ते तैस्तीर्णः क्लेशसागरः ।
जगत्संमोहजननी यैराशाराक्षसी जिता ॥१७१॥

अर्थः-ससार को मोह उत्पन्न करने वाली आशारूपी राक्षसी को जिन्होने जीत लिया है वे ही पुण्यात्मा भाग्यशाली हैं और उन्होने क्लेशरूपी सागर को पार कर पाया है ॥१७१॥

सत् और असत् पुरुष की तृष्णा मे अन्तर

पलितैकदर्शनादपि सरति सतश्चित्तमाशु वैराग्यम् ।
प्रतिदिनमितरस्य पुनः सह जरया वर्द्धते तृष्णा ॥१७२॥

अर्थः- सज्जन का चित्त तो एक सफेद बाल के देखने से ही शीघ्र वैराग्य को प्राप्त हो जाता है परन्तु असज्जन की तृष्णा प्रतिदिन स्वाभाविक वेग से बढती जाती है ॥१७२॥

आशारूपी पिशाच दु ख का कारण है

आसापिसायगहिओ जीवो पावेइ दारुणं दुक्खं ।
आसा जाहँ णियत्ता ताहँ णियत्ताइँ सयलदुक्खाइँ ।।१७३।।

अर्थ - आशा रूपी पिशाच के द्वारा ग्रस्त जीव दारुण दु.ख पाता है जिन्होने आशा को रोक लिया उन्होने समस्त दु खों को रोक लिया है ॥१७३॥

तृष्णा निवृत्त नही होती

चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरोऽपि सुरराजमीहते कर्तुम् ।
सुरराजोऽप्यूर्ध्वगतिं तथापि न निवर्तते तृष्णा ॥१७४॥

अर्थ - चक्रवर्ती देव पद चाहता है, देव इन्द्र पद चाहता है और इन्द्र सिद्ध पद चाहता है किसी तरह तृष्णा निवृत्त नही होती ॥१७४॥

卐:-

परिग्रह निन्दा

परिग्रह से सुख नही होता

नो सङ्गाज्जायते सौख्यं, मोक्षसाधनमुत्तमम् ।

सङ्गाच्च जायते दुःखं, संसारस्य निबन्धनम् ॥१७५॥

अर्थ:- परिग्रह से मोक्ष को प्राप्त कराने वाला उत्तम सुख प्राप्त नही होता किन्तु इसके विपरीत ससार का कारण दुःख उत्पन्न होता है ॥१७५॥

परिग्रह नरक का कारण है

आरम्भो जन्तुघातश्च, कषायाश्च परिग्रहात् ।

जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥१७६॥

अर्थ:- परिग्रह से, आरम्भ, जीवघात और कषाय उत्पन्न होती है तथा उनके कारण जीवो का नरक रूपी सागर मे पतन होता है ॥१७६॥

परिग्रह प्रीति का कारण नही है

यास्यन्ति निर्दया नूनं ये दत्वा दाहमूर्जितम् ।

हृदि पुंसां कथं ते स्यु स्तव प्रीत्यै परिग्रहाः ॥१७७।

अर्थ - जो दया रहित परिग्रह पुरुषो के हृदय में बहुत भारी दाह देकर नष्ट होने वाले हैं वे तुम्हारी प्रीति के लिये कैसे हो सकते हैं ? ॥१७७॥

घन अनर्थ का कारण है

अर्थः कस्यानर्थो न भवति भरतः समस्तधनलाभरतः ।
चक्री चक्रेऽनुज वधाय मनः प्रहृतवैरिचक्रे चक्रे ॥१७८॥

अर्थ - धन किसके लिये अनर्थ का कारण नही है ? जब कि भारत चक्रवर्ती ने शत्रुओ के समूह को नष्ट करने वाले चक्र रत्न प्राप्त होने पर छोटे भाई के बध के लिये मन किया था।

उस धन के लिये नमस्कार हो (?)

अविश्वासनिदानाय महापातकहेतवे ।
पितृपुत्रविरोधाय हिरण्याय नमोस्तु ते ॥१७९॥

अर्थ - जो अविश्वास का कारण है, महापाप का हेतु है तथा पिता और पुत्र मे विरोध उत्पन्न करने वाला है उस स्वर्ण (धन) के लिये नमस्कार हो ॥१७९॥

परिग्रह सदा बन्ध का कारण है

कादाचित्को बन्धः क्रोधादेः कर्मणः सदा सङ्गात् ।
नातः क्वापि कदाचित्परिग्रहवतां जायते सिद्धिः ॥१८०॥

अर्थ - क्रोधादि कर्मों से कदाचित् बन्ध होता है परन्तु परिग्रह से सदा बन्ध होता है अत परिग्रही मनुष्यो को कही भी कभी भी सिद्धि नही होती ॥१८०॥

घन दुःख का कारण है

द्रव्यं दुःखेन चायाति स्थितं दुःखेन रक्ष्यते ।
दुःखशोककरं पापं धिग्द्रव्यं दु खभाजनम् ॥१८१॥

अर्थ - घन दु ख से आता है और आया हुआ दु ख से रक्षित होता है, घन दु ख और शोक को करने वाला है, पापरूप है, तथा दु ख का भाजन है ऐसे धन को धिक्कार है ॥१८१॥

परिग्रही मुनि निन्द्य है

शय्याहेतुतृणादानं मुनीनां निन्दितं बुधैः ।
यः स द्रव्यादिकं गृह्णन् किं न निन्द्यो जिनागमे ॥१८२॥

अर्थः- जब कि विद्वानो ने मुनियों के लिये शय्या के हेतु तृणो का ग्रहण करना भी निन्दनीय बतलाया है तब जो मुनि द्रव्य आदि का ग्रहण करता है वह जिनागम मे निन्दनीय क्यों नही है? अवश्य है ॥१८२॥

सब लोग धन के पीछे ही पडते हैं

मूर्धाभिषिक्ताश्च निजास्त्वनेक मलिम्लुचाद्याश्च बहुप्रकाराः।
गृद्धाः परेऽप्यर्थवतीव सिहं यत्रामिषं तत्र बकाः पतन्ति।१८५॥

अर्थ:- मूर्धाभिषिक्त राजा, निजी कुटुम्ब के लोग, तथा अनेक प्रकार के चोर आदि अन्य पुरुष गीधो के समान धन-वान् के ऊपर पडते हैं— उसे घेरे रहते हैं इससे यह बात सिद्ध होती है कि जहा मास होता है वहा बगुले पड़ते हैं ॥१८५॥

धन सतोष का कारण नही है

परिग्रहग्रहग्रस्तः सर्वं गिलितुमिच्छति ।
धने न तस्य संतोषः सरित्पूर इवार्णवः ॥१८६॥

अर्थ:- परिग्रहरूपी पिशाच से ग्रसा हुआ मनुष्य सबको निगलने की इच्छा करता है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह में समुद्र को सतोष नही होता उसी प्रकार परिग्रही मनुष्य को परिग्रह मे सतोष नही होता ॥१८६॥

परिग्रह का त्याग ही पूजा का कारण है

परिग्रही न पूज्येत निःपरिग्रहस्तु पूज्यते ।
तिष्ठन्ति भूभृतां भाले तन्दुलास्तुषवर्जिता ॥१८७॥

अर्थ - परिग्रही मनुष्य नही पूजा जाता किन्तु परिग्रह रहित मनुष्य पूजा जाता है क्योकि छिलके से रहित चावल राजाओ के ललाट पर स्थित होते है ॥१८७॥

निष्परिग्रहता से क्या लाभ है ?

माक्षात्‌ुल्लसतीव संयमतरुर्निर्भीकता रोहती —
वोल्लासं व्रजतीव शान्तिपदवी शुद्धिं दधातीव च ।
धर्मः शर्मकरः समस्तविषयव्यामुग्धता मूर्च्छती—
त्यामङ्गे लसतीव लाघवगुणः स्वायत्तता क्रीडति ॥१८८॥

अर्थ - निष्परिग्रहता मे ऐसा जान पडता है मानो सयम-रूपी वृक्ष साक्षात् लहलहा रहा हो, निर्भीकता बढ रही हो, शान्ति का मार्ग उल्लास को प्राप्त हो रहा हो, सुखकारी धर्म शुद्धि को धारण कर रहा हो, समस्त विषयो का व्यामोह मूर्छित हो रहा हो, भारहीनता सुशोभित हो रही हो और स्वाधीनता क्रीडा कर रही हो ॥१८८॥

—卐—

दया प्रशंसा

सब जीवो पर दया करना चाहिये

सर्वप्राणिदया जिनेन्द्रगदिता स्वर्गार्गलोद्घाटिका
सर्वश्रायसमुक्तिसौख्यजननी कीर्त्याकरा प्राणदा।
संसाराम्बुधितारिका गुणकरी पापान्तिका प्राणिनां
सद्रत्नत्रयभूमिका कुरु सदा सर्वेषु जीवेषु च ॥१८९॥

अर्थ:- जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कही हुई समस्त प्राणियो की दया स्वग के अर्गल को खोलने वाली है मोक्ष के समस्त सुखो को उत्पन्न करने वाली है, कीर्ति की खान है, प्राणो को देने वाली है, ससार समुद्र से तारने वाली है, गुणो को पैदा करने वाली है, प्राणियो के पाप को नष्ट करने वाली है तथा सम्यक् रत्नत्रय की भूमिका है, हे भव्यजीवो ! ऐसी दया को तुम सदा समस्त जीवो पर धारण करो ॥१८९॥

निर्दय मनुष्य, मनुष्य नही है

बालेषु वृद्धेषु च दुर्बलेषु भ्रष्टाधिकारेषु निराश्रयेषु।
रोगाभियुक्तेषु जनेषु लोके येषां कृपानास्ति न ते मनुष्याः॥१९०॥

अर्थ:- इस संसार मे बालको पर, वृद्धो पर, दुर्बलों पर,

अधिकार से भ्रष्टजनो पर, निराश्रितो पर और रोगीजनों पर जो दया नही करते हैं, वे मनुष्य नही है ॥१६०॥

दया विश्वास का कारण है

विश्वसन्ति रिपवोऽपि दयालो, र्वित्रसन्ति सुहृदोऽप्यदयाच्च ।
प्राणसंशयपदं हि विहाय स्वार्थमीप्सति ननु स्तनपोऽपि॥१६१॥

अर्थ.- दयालु मनुष्य का शत्रु भी विश्वास करते हैं और निर्दय मनुष्य से मित्र भी भयभीत रहते हैं। स्तन पान करने वाला शिशु भी जहा प्राणों का संशय है ऐसे स्थान को छोड कर अपना भला करना चाहता है ॥१६१॥

दया ही सार है

संसारे मानुषं सारं कौलीन्यं चापि मानुषे ।
कौलीन्ये धार्मिकत्वं च धार्मिकत्वे च सदया ॥१६२॥

अर्थ.- ससार मे मनुष्य जीवन सार है, मनुष्य जीवन मे कुलीनता सार है, कुलीनता मे धार्मिकता सार है और धार्मिकता मे समीचीन दया सार है ॥१६२॥

दया सिद्धि का कारण है

मनो दयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ।
मनो दयापविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ॥१६३॥

अर्थ - यदि तेरा मन दया से सहित है तो सिद्धि प्राप्त करने के लिये व्यर्थ ही क्लेश उठाता है क्योंकि दया के कारण सिद्धि नियम से प्राप्त होगी और यदि तेरा मन या से रहित है तो सिद्धि प्राप्त करने के लिये व्यर्थ ही क्लेश उठाता है क्योंकि दया के विना तपश्चरणादि का क्लेश उठाने पर भी सिद्धि की प्राप्ति नही हो सकती ॥१९३॥

दयालु मनुष्य पर दोषारोपण नही होता

क्षिप्तोऽपि केनचिद्दोषो दयार्द्रे न प्ररोहति ।
तक्रार्द्रे तृणवत् किन्तु गुणग्रामाय कल्पते ॥१९४॥

अर्थ - जिस प्रकार छाछ मे गीली भूमि पर तृण नही जमता है उसी प्रकार दया से आर्द्र मनुष्य पर किसी के द्वारा लगाया हुआ दोष जमता नही है किन्तु गुण समूह का कारण होता हैं ॥१९४॥

निर्दय मनुष्य का तप तथा व्रताचरण व्यर्थ है

तपस्यतु चिरं तीव्रं व्रतयत्वतियच्छतु ।
निर्दयस्तत्फलैर्दीनः पीनश्चैकां दयां चरन् ॥१९५॥

अर्थ - भले ही चिरकाल तक तीव्र तपश्चरण करो, व्रत करो और दान देओ परन्तु निर्दय मनुष्य उनके फल से रहित होता है और दया का आचरण करने वाला उनके फल से सहित होता है ॥१९५॥

दयाहीन मनुष्य के सदाचार कैसे हो सकता है

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चारितं कुतः ।
नहि भूतद्रुहां क्वापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत् ।।१९६।।

अर्थ - जिसे जीवदया नही है उसके सदाचार कैसे हो सकता है । वास्तव मे जीवघात करने वालो की कोई भी क्रिया श्रेयस्कर नही होती ।।१९६।।

दयालु मनुष्य की दुर्गति नही होती

दयालोरव्रतस्यापि दुर्गतिः स्याददुर्गतिः ।
व्रतिनस्तु दयोनस्यादुर्गतिः स्याद्धि दुर्गतिः ।।१९७।।

अर्थ - दयालु मनुष्य भले ही व्रत रहित हो, परन्तु उसकी दुर्गति, दुर्गति नही रहती-वह दुर्गति मे पड कर भी सुखोपभोग करता है । और निर्दय मनुष्य भले ही व्रत सहित हो परन्तु सुगति भी उसके लिये दुर्गति हो जाती है, वह अच्छी गति मे पहुँच कर भी दुर्गति का पात्र होता है ।।१९७।।

दयावान् मनुष्य ही दानी है

सर्वं दानं कृतं तेन सर्वे यज्ञाश्च भारताः ।
सर्वतीर्थाभिषेकाश्च यः कुर्यात्प्राणिनां दयाम् ।।१९८।।

अर्थ - हे पाण्डवो ! जो प्राणियो की दया करता है उसने

सब दान दिये हैं, सब यज्ञ किये हैं और सब तीर्थों मे स्नान किये हैं ॥१९८॥

दया धर्म का मूल है

दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम् ।
दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्त्तिताः ॥१९९॥

अर्थ:- धर्म दयामूलक है प्राणियो पर अनुकम्पा करना दया है तथा दया की रक्षा के लिये ही शेष-समस्त गुण कहे गये हैं ।

आहारदान प्रशंसा

मुनि भुक्तावशेष भोजन के भक्षण का फल

श्रमणानां भुक्तशेषस्य भोजनेन नरो भवेत् ।
तुष्टिपुष्टिबलारोग्यदीर्घायुःसमन्वितः ॥२००॥

अर्थ:- मुनियो के भोजन से अवशिष्ट पदार्थों का भोजन करने से मनुष्य तुष्टि, पुष्टि, बल, आरोग्य और दीर्घ आयु से सहित होता है ॥२००॥

मुनियों को आहारदान का फल

जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुद्दिट्ठं ।
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥२०१॥

अर्थ - जो मुनियो के भोजन से अवशिष्ट पदार्थों का भोजन करता है वह जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित संसार के श्रेष्ठसुख को भोगकर क्रम मे निर्वाण के उत्तम सुख को प्राप्त होता है॥२०१॥

पात्रदान का फल

सौधर्मादिषु कल्पेषु भुञ्जते स्वेप्सितं सुखम् ।
मानवाः पात्रदानेन मनोवाक्कायशुद्धितः ॥२०२॥

तत एत्य सुजायन्ते चक्रिणो वार्धचक्रिणः ।
इक्ष्वाक्वादिषु वंशेषु पात्रदानफलान्नराः ॥२०३॥

भक्तिपूर्वप्रदानेन लक्ष्मीः स्याद्भोगसंयुता ।
अनादरप्रदानेन लक्ष्मीः स्याद्भोगवर्जिता ॥२०४॥

अर्थ:- मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक पात्र दान देने से मनुष्य सौधर्म आदि स्वर्गो मे अपने अभीष्ट सुख को भोगते है और वहा से आकर इक्ष्वाकु आदि वशो में चक्रवर्ती तथा अर्धचक्रवर्ती होते है। भक्तिपूर्वक दान देने से ऐसी लक्ष्मी प्राप्त होती है जो अपने भोग मे आती है और अनादरपूर्वक दान देने से ऐसी लक्ष्मी मिलती है जो अपने भोग मे नहीं आती ॥२०२, २०३, २०४॥

दानहीन मनुष्य की संपत्तियां निरर्थक हैं

यस्य दानहीनस्य धनान्यायान्ति यान्ति किम् ।
अरण्यकुसुमानीव निरर्थास्तस्य संपदः ॥२०५॥

अर्थ- दानहीन मनुष्य के धन आते हैं और जाते हैं इससे क्या ? उसकी सपदाए जङ्गल के फूलो के समान निरर्थक है।

पात्रदान ही सफल होता है

पात्रे दत्तं भवेत्सर्वं पुण्याय गृहमेधिनाम् ।
शुक्ताविव हि मेघानां जलं मुक्ताफलं भवेत् ॥२०६॥

अर्थ - पात्र के लिये दिया हुआ सब दान गृहस्थो के पुण्य का कारण होता है क्योकि सीप मे पडा हुआ ही मेघो का जल मुक्ताफल होता है ॥२०६॥

दाता और पूजक का भाव कैसा होना चाहिये ?

श्रद्धादिकगुणसम्पूर्णः कषायपरिवर्जितः ।
दातृपूजकयोर्भावश्चान्योन्यप्रीतिसंयुतः ॥२०७॥

अर्थ - दान देने वाले और पूजा करने वाले मनुष्य का भाव श्रद्धादिगुणो से परिपूर्ण, कषाय से रहित, होना चाहिए तथा दाता और पात्र एव पूजक और पूज्य इन दोनो की परस्पर की प्रीति से सहित होना चाहिये ॥२०७॥

निर्दोष आहार कहाँ प्राप्त नहीं होता ?

श्रावकाचारमुक्तानां हिंसोद्यमविवर्तिनाम् ।
दयाक्षमाविनीत्यादिगुणग्रामास्तचेतसाम् ॥२०८॥
मिथ्यादृष्टिपरीतानां स्वयं मिथ्यादृशामरम् ।
गेहिनां वेश्मसु भुक्ति निर्दोषा लभ्यते कथम् । २०९॥

अर्थ - जो श्रावकाचार से रहित है, हिंसामय व्यापार करते हैं दया क्षमा तथा विनय आदि गुणो के समूह से शून्य हृदय हैं, मिथ्यादृष्टियो से घिरे हुए हो, तथा स्वयं मिथ्यादृष्टि हों, ऐसे गृहस्थो के घरो मे निर्दोष आहार कैसे प्राप्त हो सकता है ?

—卐—

ज्ञानदान प्रशंसा

ज्ञानदान मुक्ति का कारण है

यो ज्ञानदानं कुरुते मुनीनां स देवलोकस्य सुखानि भुक्त्वा ।
राज्यं च सत्केवलबोधलब्धिं लब्ध्वा स्वयं मुक्तिपदं लभेत ।२१०

अर्थ:- जो मुनियो के लिए ज्ञानदान करता हैं वह स्वर्ग लोक के सुख भोग कर राज्य को प्राप्त होता है और केवल ज्ञान को प्राप्त कर स्वय मोक्ष पद को प्राप्त होता है ॥२१०॥

ज्ञानदान से जीव मोक्ष पद को प्राप्त होता है

मर्त्यामरश्रियं भुक्त्वा भुवनोत्तमपूजिताम् ।
ज्ञानदानप्रसादेन जीवो गच्छति निर्वृतिम् ॥२११॥

अर्थ:- जीव ज्ञानदान के प्रसाद से मनुष्य और देवो की लक्ष्मी का उपभोग कर लोकोत्तम पुरुषो के द्वारा पूजित मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२११॥

ज्ञानदान देने वाले को सासारिक लक्ष्मी कठिन नही है

मुक्तिः प्रदीयते येन शास्त्रदानेन पावनी ।
लक्ष्मीं सांसारिकीं तस्य प्रददानस्य कः श्रमः ॥२१२॥

अर्थ.- जिस शास्त्रदान के द्वारा पवित्र मुक्ति प्रदान की जाती है उस शास्त्र दान को सांसारिक लक्ष्मी प्रदान करते हुए क्या श्रम होता है ? अर्थात् कुछ नही ॥२१२॥

शास्त्रदान किसे कहते हैं

लिखित्वा लेखयित्वा वा साधुभ्यो दीयते श्रुतम् ।
व्याख्यायतेऽथवा स्वेन शास्त्रदानं तदुच्यते ॥२१३॥

अर्थ:- स्वयं लिख कर अथवा दूसरो से लिखवा कर मुनियों के लिये जो शास्त्र दिया जाता है अथवा स्वय शास्त्र को व्याख्या की जाती है वह शास्त्रदान कहलाता है ।

शास्त्रदान केवलज्ञान का कारण है

लभ्यते केवलज्ञानं यतो विश्वावभासकम् ।
अपरज्ञानलाभेषु कीदृशी तस्य वर्णना ॥२१४॥

अर्थ:- जिस शास्त्रदान से समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त होता है उससे अन्य ज्ञानों की प्राप्ति होती है यह वर्णन क्या महत्व रखता है ?

शास्त्रदान का फल

शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम् ।
वादी वाग्मी कवि र्मान्यः ख्यातशिक्षः प्रजायते ॥२१५॥

अर्थ:- शास्त्रो का दान करने वाला मनुष्य सत्पुरुषो का पूज्य, विद्वानो का सेव्य, वाद करने वाला, प्रशस्त वचन बोलने वाला, कवि, मान्य और प्रसिद्ध शिक्षा से युक्त होता है ।२१५।

शास्त्रदान से मनुष्य श्रेष्ठ विद्वान् होता है

तार्किकः शाब्दिकः सार-सिद्धान्तशतसेवितः ।
शास्त्रदानेन जायेत मुनेर्विद्वच्छिरोमणिः ॥२१६॥

अर्थ:- मुनि को शास्त्रदान देने से यह मनुष्य तर्कशास्त्र का ज्ञानी, व्याकरण शास्त्र का ज्ञाता सैकड़ो सिद्धान्त ग्रन्थों का

ज्ञाता तथा विद्वानों मे शिरोमणि होता है ॥२१६॥

औषधदान प्रशंसा

औषधदान कर्मरूपी रोग को नष्ट करने वाला है

औषधं यो मुनीनां संदत्ते पुण्याकरं बुध ।
देवलोके सुखं भुक्त्वा कर्मरोगादिकं क्षिपेत् ॥२१७॥

अर्थ:- जो विद्वान् पुरुष मुनियो के लिये पुण्य की खान स्वरूप औषध प्रदान करता है वह स्वर्ग लोक मे सुख भोग कर कर्मरूपी रोगादिक का क्षय करता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

औषधदान की उपयोगिता

न शक्नोति तपः कर्तुं सरोगः संयतो यतः ।
ततो रोगापहारार्थं देयं प्रासुकमौषधम ॥२१८॥

अर्थ - क्योकि रोगी मुनि तप करने मे समर्थ नही है इस लिये रोग दूर करने के लिये उन्हे प्रासुक औषध देना चाहिये।

रोगियो को औषध देना चाहिये

रोगिभ्यो भेषजं देयं रोगा देहविनाशकाः ।
देहनाशे कुतो ज्ञानं ज्ञानाभावे न निर्वृतिः ॥२१९॥

अर्थ - रोगियो को औषध देना चाहिये क्योंकि रोग शरीर के नाशक हैं, शरीर का नाश होने पर ज्ञान कैसे हो सकता है और ज्ञान के बिना निर्वाण कैसे प्राप्त हो सकता है ?॥२१६॥

औषधदान से मनुष्य निरोग होता है।

तस्मात् स्वशक्तितो दानं भैषज्यं मोक्षहेतवे।
देय स्वयं भवेऽन्यस्मिन्भवेद् व्याधिविवर्जितः ॥२२०॥

अर्थ - इसलिये मोक्ष प्राप्ति के निमित्त अपनी शक्ति के अनुसार औषधदान देना चाहिये क्योकि औषधदान देने वाला स्वय अन्यभव मे रोगो से रहित होता है ॥२२०॥

निरोग मनुष्य का सुख अकथनीय है।

आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापकः।
कि सुखं कथ्यते तस्य सिद्धस्येव महात्मनः ॥२२१॥

अर्थ - जिस मनुष्य के शरीर मे सताप उत्पन्न करने वाला रोग जीवन पर्यन्त नही होता सिद्ध महात्मा के समान उसके सुख का क्या कहना है, उसका सुख वचनअगोचर है ॥२२१॥

औषधदान देने वाले के रोग नष्ट होते है

ध्वान्तं दिवाकरस्येव शीतं चित्ररुचेरिव।
भैषज्यदायिनो देहाद् रोगित्वं प्रपलायते ॥२२२॥

अर्थः- जिस प्रकार सूर्य से अन्धकार और अग्नि से शीत दूर भागता है उसी प्रकार औषधदान करने वाले मनुष्य के शरीर से रोगीपना दूर भागता है ।।२२२।।

औषधदान देने वाले के सरोगअवस्था नहीं होती

न जायते सरोगत्वं जन्तोरौषधदायिनः ।
पावकं सेवमानस्य तुषारं हि पलायते ।।२२३।।

अर्थ- औषधदान देने वाले के सरोगपना नही होता सो ठीक ही है क्योंकि अग्नि की सेवा करने वाले के शीत भाग ही जाता है ।।२२३।।

औषनदान का महत्व

वातपित्तकफोत्थानै रोगैरेष न पीड्यते ।
दावैरिव जलस्थायी भेषजं येन दीयते ।।२२४।।

अर्थः- जिस प्रकार जल मे स्थित रहने वाला जीव दावानल से पीडित नही होता उसी प्रकार जिसने औषध प्रदान की है वह वात्तपित और कफ से उत्पन्न होने वाले रोगों से पीडित नही होता ।।२२४।।

औषधदान का फल वचनो से अकथनीय है

येनौषधप्रदस्येह वचनैः कथ्यते फलम् ।

चुलकैर्मीयते तेन पयो नूनं पयोनिधेः ।।२२५।।

अर्थ - इस लोक मे जिसके द्वारा औषधदान देने वाले का फल कहा जाता है उसके द्वारा मानो निश्चय से समुद्र के जल को चुल्लियो मे भर भर कर नापा जाता है ।।२२५।।

औषधदान देने वाले का फल कौन कह सकता है ?

रक्ष्यते व्रतिनां येन शरीरं धर्मसाधनम् ।
पार्यते न फलं वक्तुं तस्य भैषज्यदायिनः ।।२२६।।

अर्थ -जिसके द्वारा व्रतियो के धर्मसाधन कराने वाले शरीर की रक्षा की जाती है उस औषधदान देने वाले का फल कहने मे नही आता ।।२२६।।

औषध क्यो दी जाती है

न देहेन विना धर्मो न धर्मेण विना सुखम् ।
यतोऽतो देहरक्षार्थं भैषज्यं दीयते यतेः ।।२२७।।

अर्थ :- क्योकि शरीर के बिना धर्म नही होता और धर्म के बिना सुख नही होता इसलिये शरीर की रक्षा के अर्थ मुनि को औषध दी जाती है ।

शरीर की रक्षा करना चाहिये

शरीरं संयमाधारो रक्षणीयं तपस्विनाम् ।

प्रासुकैरौषधैः पुंसा यत्नतो मुक्तिकाङक्षिणा ।।२२८।।

अर्थ- तपस्वियो का शरीर सयम का आधार है इसलिये मुक्ति के अभिलाषी पुरुषो को प्रासुक औषधियो के द्वारा साधुवो के शरीर कीरक्षा करना चाहिये ।।२२८।।

औषधदान मे सब दान गर्भित है

चारित्रं दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायो विनयो जपः ।
सर्वेऽपि विहिता स्तेन दत्तं येनौषधं यतेः ।।२२६।।

अर्थ- जिसने मुनि के लिये औषध दी है उसने चारित्र, दर्शन, ज्ञान, स्वाध्याय, विनय और जप आदि सभी कुछ दिये हैं ।।२२६।।

ज्ञान प्रशंसा

विवेक ही शोभा का कारण है

हंसः श्वेतो वकः श्वेतः को भेदो वकहंसयोः ।
नीरक्षीरविवेके तु हंसो हंसो वको वकः ।।२३०।।

अर्थः— हस सफेद है और बगुला भी सफेद है । बाह्य रूप रङ्ग की अपेक्षा बगुला और हस मे क्या भेद है ? परन्तु जब दूध और पानी को अलग अलग करना पडता है तब हस हस हो जाता है और बगुला ही बना रह जाता है ।।२३०।।

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
प्राप्ते वसन्तसमये काकः काकः पिकः पिकः ॥२३१॥

अर्थः- कौआ काला है और कोयल भी काली है परन्तु वसन्त का समय आने पर कौआ कौआ रह जाता है और कोयल कोयल हो जाती है ॥२३१॥

ज्ञानाराधना की प्रेरणा

मालिनी छन्द

विमलगुणनिधानं विश्वविज्ञानबीजं
जिनमुनिगणसेव्यं सर्वतत्त्वप्रदीपम्।
दुरितघनसमीरं पुण्यतीर्थं जिनोक्तं
मनइभमदसिंह ज्ञानमाराधय त्वम् ॥२३२॥

अर्थ - जो निर्मल गुणो का भण्डार है, समस्त विज्ञानों का बीज है, जिनेन्द्र और मुनियो के समूह से सेवनीय है, समस्त तत्वो का प्रकाशन करने वाला है, पापरूपी मेघ को प्रचण्ड वायु है, पवित्र तीर्थ रूप है, जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा गया है और मनरूपी हाथी के मद को नष्ट करने के लिये सिंह है ऐसे ज्ञान की हे भव्यजीवो तुम आराधना करो।

ज्ञान क्या है ?

येनात्मा बुध्यते तत्त्वं मनो येन निरुध्यते ।
पापाद्विमुच्यते येन तज्ज्ञानं ज्ञानिनो विदुः ।।२३३।।

अर्थः- जिससे आत्मा तत्त्व को जानता है, जिससे मन का निरोध होता है और जिसके द्वारा आत्मा पाप से छूटता है, ज्ञानी पुरुष उसे ज्ञान कहते हैं ।।२३३।।

प्रवल ज्ञान कौन है ?

येन रागादयो दोषाः प्रणश्यन्ति द्रुतं सताम् ।
संवेगाद्याः प्रवर्धन्ते गुणा ज्ञानं तदूर्जितम् ।।२३४।।

अर्थः- जिसके द्वारा सत्पुरुषों के रागादि दोष शीघ्र ही नष्ट होते हैं तथा सवेग आदि गुणो की वृद्धि होती है वह प्रवल ज्ञान है—उत्कृष्ट ज्ञान है ।।२३४।।

ज्ञान का लक्षण

येनाक्षविषयेभ्योऽत्र विरज्य शिववर्त्मनि ।
ज्ञानी प्रवर्तते नित्यं तज्ज्ञानं जिनशासने ।।२३५।।

अर्थ— जिसके द्वारा ज्ञानी जीव इन्द्रियो के विषयों से विरक्त होकर निरन्तर मोक्ष मार्ग मे प्रवृत्ति करता है जिन शासन मे वही ज्ञान कहा जाता है ।।२३५।।

ज्ञान की महिमा

ज्ञानयुक्तो भवेज्जीव स्वर्गश्रीमुक्तिवल्लभः ।
ज्ञानहीनो भ्रमेन्नित्यं संसारे दुःखसागरे ।।२३६।।

अर्थः- ज्ञान से युक्त जीव स्वर्ग की विभूति तथा मुक्ति का स्वामी होता है और ज्ञान रहित जीव दुखो के समुद्र स्वरूप इस ससार मे निरन्तर भ्रमण करता है ।।२३७।।

ज्ञानहीन मनुष्य गुण और अगुण को नही जानता

ज्ञानहीनो न जानाति धर्मपापगुणागुणम् ।
हेयाहेयविवेकं च जात्यन्ध इव भास्करम ।।२३७।।

अर्थः- जिस प्रकार जन्मान्ध मनुष्य सूर्य को नही देखता है उसी प्रकार ज्ञानहीन मनुष्य धर्म के गुण, पाप के अवगुण तथा हेय और उपादेय के विवेक को नही जानता । -

—卐—

उपकरणदान प्रशंसा

वस्त्रदान का फल

आर्येभ्य आर्यिकाभ्यश्च वस्त्रदानेन धीधन· ।
भरजोऽम्बरधारी स्याच्छुक्लध्यानी भवान्तरे ।।२३८।।

अर्थ:- ऐलक क्षुल्लक तथा आर्यिकाओ के लिये वस्त्र देने से बुद्धिमान् मनुष्य इस भव मे उज्ज्वल वस्त्रो का धारी और भवान्तर मे शुक्लध्यान का धारक होता है ॥२३८॥

कोमलानि महार्घाणि विशालानि घनानि च ।
वासोदानेन वासांसि संपद्यन्ते सहस्रश· ॥२३९॥

अर्थ:- वस्त्रदान से हजारो वार कोमल, महामूल्य, विशाल और सघन वस्त्र प्राप्त होते हैं ॥२३९॥

पीछी और कमण्डलु के दान का फल

मयूरबर्हदानेन सपुत्रश्चिरर्जीवित ।
दानात्कमण्डलोः पात्रे निर्मलाङ्गः शुचिव्रतः ॥२४०॥

अर्थ:- पात्र के लिये मयूरपुच्छ से निर्मित पीछी के देने से वह मनुष्य पुत्र सहित चिरकाल तक जीवित रहता है और कमण्डलु के देने से निर्मल शरीर और निरतिचार व्रत का धारक होता है ॥२४०॥

पेयदान का फल

ददती जनतानन्दं चन्द्रकान्तिरिवामला ।
जायते पानदानेन वाणी तापापनोदिनी ॥२४१॥

अर्थ:- पेय पदार्थों के दान से जनता को आनन्द देने वाली, चन्द्रमा की कान्ति के समान निर्मल और संताप को दूर करने वाली वाणी प्राप्त होती है ॥२४१॥

निवास दान का फल

विचित्ररत्ननिर्माणः प्रोत्तुङ्गो बहुभूमिकः ।
लभ्यते वासदानेन वासश्चन्द्रकरोज्ज्वलः ॥२४२॥

अर्थ - निवास स्थान के देने से चित्र विचित्र रत्नों से निर्मित, ऊंचा, अनेकतल्लों वाला एवं चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल भवन प्राप्त होता है ॥२४२॥

मन्दिर में छत्र चामर आदि उपकरण चढ़ाने का फल

छत्रचामरलम्बूषपताकादर्पणादिभिः ।
भूषयित्वा जिनस्थानं याति विस्मयिनीं गतिम् ॥२४३॥

अर्थ.- छत्र, चामर, फन्नूस, पताका और दर्पण आदि के द्वारा जिन मन्दिर को विभूषित कर मनुष्य आश्चर्य-कारक लक्ष्मी को प्राप्त होता है।

किस समय क्या देना चाहिये ?

उष्णकाले जलं दद्याच्छीतकाले च कार्पसम् ।
प्रावृट्काले गृहं दद्यात्सर्वकाले च भोजनम् ॥२४४॥

अर्थः- उष्णकाल में जल देना चाहिये, शीतकाल में वस्त्र देना चाहिये, वर्षाकाल मे घर देना चाहिये और भोजन सब समय देना चाहिये ॥२४४॥

दान प्रशंसा

दान महिमा

दानं दुर्गतिनाशनं हितकरं दानं बुधाः कुर्वते
दानेनैव गृहस्थता गुणवती दानाय यत्नं सताम् ।
दानान्नास्त्यपरः सुभोगजनको दानस्य योग्या विदो
दाने दातृमनःस्थितिं प्रकुरुते दानं दद्ध्वं जनाः ॥२४५॥

अर्थ-दान दुर्गति को नष्ट करने वाला है, विद्वान् लोग हितकारी दान देते हैं, दान से ही गृहस्थपना सफल होता है, दान के लिये सत्पुरुषों का प्रयत्न होता है, दान से बढ़ कर दूसरा कोई भोगों को उत्पन्न करने वाला नहीं है, विद्वान् दान देने के योग्य है, दाता का मन दान में स्थिर होता है इसलिये हे भव्यजनो ! दान देओ ॥२४५॥

दान कीर्त्ति का कारण है

दानानुसारिणी कीर्ति लक्ष्मीः पुण्यानुसारिणी ।
अभ्यासत्सारिणी विद्या बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥२४६॥

अर्थ.- कीर्ति दान के अनुसार फैलती है, लक्ष्मी पुण्य के अनुसार बढ़ती है, विद्या अभ्यास के अनुसार प्राप्त होती है और बुद्धि कर्म के अनुसार मिलती है ।।२४६।।

दानी किसे प्रिय नहीं होता ?

दानामृतं यस्य करारविन्दे वाक्यामृतं यस्य मुखारविन्दे ।
दयामृतं यस्य मनोऽरविन्दे स वल्लभः कस्य नरस्य न स्यात्

अर्थः- दानरूपी अमृत जिसके हस्त कमल में है, वचनरूपी अमृत जिसके मुख कमल में है और दयारूपी अमृत जिसके हृदयकमल मे है वह किस मनुष्य को प्रिय नहीं होता ? अर्थात् सभी को प्रिय होता है ।

दान से ही पूजा होती है

त्याग एव गुणःश्लाघ्यः किमन्यैर्गुणराशिभिः ।
त्यागाज्जगति पूज्यन्ते पशुपाषाणपादपाः ।।२४७।।

अर्थ - दान ही प्रशंसनीय गुण है, अन्य गुणों के समूह से क्या प्रयोजन है ? संसार में दान से ही पशु, पाषाण और वृक्ष पूजे जाते हैं ।।२४७।।

दान के भेद

अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदाच्चतुर्विधम् ।
दानं मनीषिभिः प्रोक्तं शक्तिभक्तिसमाश्रयम् ।।२४८।।

अर्थ:- अभय, आहार, औषध और शास्त्र के भेद से विद्वान् पुरुषों ने दान को चार प्रकार का कहा है। यह दान शक्ति और भक्ति के अनुसार दिया जाता है ॥२४८॥

चार दानों का फल

अभीतितोऽत्युत्तमरूपवत्त्व—
माहारतो भोगविभूतिमत्त्वम्।
भैषज्यतो रोग निराकुलत्वं
श्रुतादवश्यं श्रुतकेवलित्वम् ॥२४९॥

अर्थ:- अभयदान से उत्तम रूप, आहारदान से भोगों का ऐश्वर्य, औषधदान से रोग सम्बन्धी निराकुलता और शास्त्र दान से श्रुत केवली अवस्था प्राप्त होती है ॥२४९॥

न्यायोपात्त धन का ही दान करना चाहिये

दत्तः स्वल्पोऽपिभद्राय स्यादर्थो न्यायसंचितः।
अन्यायात्तः पुनर्दत्तः पुष्कलोऽपि फलोज्झितः ।२५०।

अर्थ:- यदि धन न्याय संचित है तो थोड़ा दिया हुआ भी लाभ के लिये होता है और धन अन्यायोपार्जित है तो बहुत दिया हुआ भी निष्फल जाता है ॥२५०॥

हीन त्यागी का लक्षण

स्वस्वस्य यस्तु षड्भागान् परिवाराय योजयेत् ।
संचये त्रीन् दशांशं च धर्मे त्यागी लघुश्च सः ॥२५१॥

अर्थ - जो अपने धन के छह भाग परिवार के लिये, तीन भाग संचय के लिये और दशवां भाग धर्म के लिये खर्च करता है वह हीन त्यागी है ॥२५१॥

मध्यम त्यागी का लक्षण

भागत्रयं तु पोष्यार्थे कोशार्थे तु द्वयीं सदा ।
षष्ठं दानाय यो युङ्क्ते स त्यागी मध्यमो मतः ॥२५२॥

अर्थ - जो अपनी आय के तीन भाग कुटुम्ब के लिये, दो भाग खजाने के लिये और छटवां भाग दान के लिये रखता है वह मध्यम त्यागी माना गया है ॥२५२॥

उत्तम त्यागी लक्षण

भागद्वयीं कुटुम्बार्थे संचयार्थे तृतीयकम् ।
स्वरायो यस्य धर्मार्थे तुर्यं त्यागी स सत्तमः ॥२५३॥

अर्थ - जो अपने धन के दो भाग कुटुम्ब के लिये, तीसरा भाग खजाने के लिये और चौथा भाग धर्म के लिये खर्च करता है वह उत्तम त्यागी है ॥२५३॥

महादानी का लक्षण

इतो हीनं दत्ते सति सुविभवे यस्तु पुरुषो
मतं तद् यत् किंचित्खलु न गणितं धार्मिकनरैः।
इमान् भागांस्त्यक्त्वा वितरति बुधो यस्तु बहुधा
महासत्त्वस्त्यागी भुवनविदितोऽसौ रविरिव।२५४॥

अर्थ:- जो मनुष्य वैभव के रहते हुए भी उपर्युक्त विभागों से कम दान देता है धार्मिक पुरुष उसे किसी गणना मे नहीं रखते तथा जो इन भागों को छोड कर बहुत दान देता है वह यहां उदार त्यागी है तथा सूर्य के समान संसार प्रसिद्ध है

—:❀:—

विराग वाटिका

जन्म का फल क्या है ?

धर्मे रागः श्रुते चिन्ता दाने व्यसनमुत्तमम्।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं संप्राप्तं जन्मनः फलम्॥२५५॥

अर्थ:- यदि धर्म में राग है, शास्त्र मे चिन्ता है, दान में उत्तम व्यसन है और इन्द्रियों के विषयों मे वैराग्य है तो जन्म का फल प्राप्त हो गया॥२५५॥

सद्धर्म की बुद्धि दुर्लभ है

दुष्प्रापा गुरुकर्मसंचयवतां सद्धर्मबुद्धिर्नृणां
जातायामपि दुर्लभः शुभगुरुः प्राप्तः स पुण्येन चेत् ।
कर्त्तुं न स्वहितं तथाप्यलममी स्वेच्छास्थितिव्याहताः
किंब्रूमः किमिहाश्रयेमहि किमाराध्येमहि संसृतौ॥२५६॥

अर्थ - बहुत भारी कर्मों के संचय से युक्त मनुष्यों के लिये सद्धर्म की बुद्धि प्राप्त हो भी जाती है तो शुभगुरु का मिलना कठिन है, और यदि पुण्योदय से शुभ गुरु भी मिल जाता है तो स्वच्छन्द स्थिति से पीडित हुए मनुष्य आत्महित करने मे समर्थ नहीं होते। हम संसार मे किससे क्या कहे ? किस का आश्रय ले ? और किसकी आराधना करे ॥२५६॥

कल्याण की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये

दारा मोक्षगृहार्गला विषधरा भोगाश्चलाः सम्पदो-
ह्यायुर्वायुकदर्थिताम्बुलहरीतुल्यं सशल्यं जगत् ।
देहः श्वभ्रनिकेतनं कुगतिदं विश्वं कुटुम्बं चलं
ज्ञात्वेतीह यतध्वमेव विबुधा नित्याप्तये श्रेयसः ॥२५७॥

अर्थः- स्त्रियां मोक्षरूपी घर के आगल है, भोग सांप हैं, सम्पदाएं चञ्चल हैं, आयु वायु से प्रेरित जल की तरङ्गों

के समान है, संसार शल्य सहित है, शरीर नरक का घर है, संसार कुगति को देने वाला है और कुटुम्ब चञ्चल है ऐसा जान कर हे विद्वानो! कल्याण की प्राप्ति के लिये निरन्तर यत्न करो ॥२५७॥

कल्याण की प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिये ?

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम् ।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम् ॥२५८॥

अर्थ - दुर्जन की संगति छोडो, सज्जन की संगति करो, रात-दिन पुण्य करो और निरन्तर अनित्यता का स्मरण करो।

तपोवन की महिमा

तपोवनं महादुःखसंसारक्षयकारणम् ।
आप्रच्छया न मे किञ्चित्कार्यमाशु विशाम्यहम् ॥२५९॥

अर्थ.- तपोवन महादुःखों से युक्त संसार के क्षय का कारण है, मुझे किसी से पूछने से क्या प्रयोजन है मै तो शीघ्र ही इसमे प्रवेश करता हूं विरागी मनुष्य ऐसा विचार करता है।

कैसा विचार निरन्तर करना चाहिये ?

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किं प्राप्य किंनिमित्तकः ।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥२६०॥

अर्थ- मैं कौन हूं ? मै किस प्रकार के गुणों से सहित हूं, मैं कहां उत्पन्न हुआ हू, मुझे क्या प्राप्त करना है और मेरा क्या निमित्त है ऐसा विचार यदि प्रतिदिन नहीं किया जाता है तो नियम से बुद्धि खोटे स्थान मे चली जाती है ॥२६०॥

वार वार क्या विचार करना चाहिये ?

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहु ॥२६१॥

अर्थ - कौन समय है ? कौन मित्र है ? कौन देश है ? कौन खर्च और आय है ? कौन मैं हूं ? और कौन मेरी शक्ति है इस तरह वार वार विचार करना चाहिये ॥२६१॥

विचारवान् को गर्व नहीं होता

कास्था सद्मनि सुन्दरेऽपि परितो दंदह्यमानेऽग्निभिः
कायादौ तु जरादिभिः प्रतिदिनं गच्छत्यवस्थान्तरम् ।
इत्यालोचयतो हृदि प्रशमिनो भास्वद्विवेकोज्ज्वले
गर्वस्यावसरः कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि ॥२६२॥

अर्थ-जिस प्रकार अग्नि द्वारा चारों ओर से जलते हुए सुन्दर से सुन्दर महल मे कोई आदर नहीं होता उसी प्रकार बुढ़ापा आदि के द्वारा प्रतिदिन भिन्न २ अवस्था को प्राप्त होते हुए शरीर आदि मे क्या आदर करना है ' ' ' इस प्रकार का विचार करने वाले प्रशान्त मनुष्य के देदीप्यमान विवेक से उज्ज्वल हृदय मे समस्त पदार्थ विषयक गर्व का अवसर कैसे आ सकता है ? ॥२६२॥

संसार मे कृतकृत्य कौन है ?

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ नरवपुः शुद्धाशयं पुण्यतो
वैराग्यं च करोति यः शुचितपो लोके स एकः कृती ।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः ॥२६३॥

अर्थ - पुण्योदय से पवित्र कुल मे जन्म, मनुष्य शरीर, निर्मल अभिप्राय और वैराग्य को प्राप्त कर जो निर्दोष तप करता है संसार मे वही एक कृतकृत्य है । यदि वही कृतकृत्य मनुष्य अहंकार छोड़ कर ध्यानरूपी अमृत का पान करता है तो समझना चाहिये कि उसने सुवर्णमय महल के ऊपर मणिमय कलश चढ़ाया है ॥२६३॥

श्रावक का लक्षण

देवशास्त्रगुरूणां च भक्तो दानदयान्वितः ।
मदाष्टव्यसनैर्हीनः श्रावकः कथितो जिनैः ॥२६४॥

अर्थ - जो देव शास्त्र और गुरु का भक्त हो, दान और दया से सहित हो तथा आठ मद और सात व्यसनों से रहित हो जिनेन्द्र भगवान ने उसे श्रावक कहा है ॥२६४॥

मुनियों का चारित्र दुर्लभ है

भव्यजीवा यदासाद्य लभन्ते संशयोज्झितम् ।
सम्यग्दर्शनसम्पन्ना गीर्वाणेन्द्रसुखं महत् ॥
चारित्रं निरगाराणां शूराणां शान्तचेतसाम् ।
शिवं सुदुर्लभं सिद्धं सारं क्षुद्रभयावहम् ॥२६५॥

अर्थ-सम्यग्दर्शन से युक्त भव्यजीव जिसे पाकर निस्सन्देह इन्द्रों के बहुत भारी सुख को प्राप्त करते है तथा अतिशय दुर्लभ मोक्ष को भी प्राप्त होते है वह शूरवीर शान्त-चित्त मुनियों का चारित्र है। यह चारित्र अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा कायर पुरुषों को भय उत्पन्न करने वाला है ॥२६५॥

जिनमार्ग के आश्रय विना इन्द्रियाँ शान्त नहीं होती

चलान्युत्पथवृत्तानि दुःखदानि पराणि च ।
इन्द्रियाणि न शाम्यन्ति विना जिनपथाश्रयात् ॥२६६॥

अर्थ:-चञ्चल, कुमार्ग मे प्रवृत्त और अत्यन्त दुःख देनेवाली इन्द्रियाँ जिनमार्ग का आश्रय लिये विना शान्त नहीं होती।

तप से आत्मा शुद्ध होता है

यथाग्निविधिना तप्तं द्रुतं शुध्यति काञ्चनम् ।
तथा कर्मकलङ्की चात्मा सुतपोऽग्निना ध्रुवम् ॥२६७॥

अर्थ:- जिस प्रकार अग्नि की विधि से तपाया हुआ सुवर्ण शीघ्र शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार कर्मरूपी कलङ्क से युक्त आत्मा उत्तम तपरूपी अग्नि के द्वारा निश्चित ही शुद्ध हो जाता है ॥ २६७ ॥

चित्त की शुद्धि चित्त से होती है

जलेन जनितः पङ्को जलेन परिशुद्ध्यति ।
चित्तेन जनितं पाप चित्तेन परिशुद्ध्यति ॥२६८॥

अर्थ:- जिस प्रकार जल से उत्पन्न कीचड़ जल से दूर होता है उसी प्रकार चित्त से उत्पन्न पाप चित्त से–अच्छे विचार से दूर होता है ॥२६८॥

तप की शुद्धि सब शुद्धियों से श्रेष्ठ है

सर्वासामेव शुद्धीनां तपःशुद्धिः प्रशस्यते ।
तपःशुद्धिप्रशुद्धानां किङ्करास्त्रिदशा नृणाम् ॥२६९॥

अर्थ:- तप की शुद्धि सब शुद्धियों मे प्रशस्त है क्योंकि तप की शुद्धि से शुद्ध मनुष्यों के देव भी किङ्कर होते है ॥२६९॥

तापस तप से शुद्ध होते है

वस्त्राद्याः समला यद्वद् धौताः शुद्ध्यन्ति वारिणा ।
तपोरूपेण तोयेन तद्वच्छुध्यन्ति तापसाः ॥२७०॥

अर्थः- जिस प्रकार वस्त्र आदि मलिन पदार्थ पानी से धोने पर शुद्ध हो जाते है उसी प्रकार तपरूपी पानी से तापस शुद्ध हो जाते ॥२७०॥

गृहस्थाश्रम हितकारी नहीं है

सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
क्वाप्येतद्द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि ।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥२७१॥

अर्थ- मूर्खों की वात जाने दो बुद्धिरूपी धन के धारक भी गृहस्थों का चरित्र कभी तो सब काम धर्म मय करता है, कभी प्रायः पापमय करता है और कभी धर्म तथा पाप दोनों से युक्त करता है इसलिये उनका यह कार्य अन्धे की रस्सी वटने के समान अथवा हाथी के स्नान के समान है। गृहस्थ की चेष्टा मदिरा आदि के नशा मे मत्त अथवा पागल मनुष्य की चेष्टा के समान है यथार्थ में गृहस्थाश्रम सर्वथा हितकारी नहीं है ॥२७१॥

सब पदार्थ क्षणिक हैं

शिखरिणी छन्दः

यदस्माभिर्दृष्टं क्षणिकमभवत्स्वप्नमिव तत्
कियन्तो भावा स्युः स्मरणविषयादपगताः ।

अहो पश्यत् पश्यत् स्वजनमखिलं यान्तमनिशं
हतव्रीडं चेतस्तदपि न भवेत्सङ्गरहितम् ।।२७२।।

अर्थ.- हम लोगों ने जिसे देखा था वह स्वप्न के समान क्षणिक हो गया। ऐसे कितने ही पदार्थ हैं जो हमारी स्मृति से भी ओझल हो गये है, और यह चित्त अपने समस्त आत्मीयजनों को निरन्तर जाता हुआ देख रहा है, फिर भी आश्चर्य है कि यह निर्लज्ज, परिग्रह से रहित नहीं होता— दैगम्बरी दीक्षा धारण नहीं करता ।।२७२।।

निर्लज्ज मन विषयों की चाह करता है

वपुः कुब्जीभूतं गतिरपि तथा यष्टिशरणा।
विशीर्णा दन्तालो श्रवणविकलं श्रोत्रयुगलम् ।
शिरःशुक्लं चक्षुस्तिमिरपटलैरावृतमहो
मनस्ते निर्लज्जं तदपि विषयेभ्यः स्पृहयति ।।२७३।।

अर्थ - शरीर टेडा हो गया है, गति लाठी के सहारे हो गई है, दन्तपङ्क्ति बिखर गई है, कर्णयुगल श्रवण शक्ति से रहित हो गये हैं, सिर सफेद हो गया है, और नेत्र अन्धकार के पटल से घिर गये हैं, फिर भी मेरा मन विषयों की चाह करता है ।।२७३।।

गृहस्थाश्रम में मतिमान् प्रीति नहीं करते

कारागारनिभे घोरे चिन्तादुःखादिसंकुले ।
सर्वपापाकरीभूते धर्मविध्वंसकारणे ॥२७४॥
कामक्रोधमहामोह-रागाद्यन्धौ गृहाश्रमे ।
मतिमान् को रतिं धत्ते ह्यनन्तभयदायिनि ॥२७५॥

अर्थ.- जो वन्दीगृह के समान है, भयंकर है, चिन्ता तथा दुःख आदि से व्याप्त है, सब पापों की खान है, धर्मनाश का कारण है, काम क्रोध महामिथ्यात्व तथा राग आदि का कूप है, और अनन्तभवों को देने वाला है, ऐसे गृहस्थाश्रम मे कौन बुद्धिमान् प्रीति करता है? अर्थात् कोई नहीं ॥२७४॥

स्थायी विराग के रहते, परम पद दुर्लभ नहीं है

श्मसानेषु पुराणेषु भोगान्तेषु च या मतिः ।
सा मतिः सर्वदा काले न दूरं परमं पदम् ॥२७६॥

अर्थ-श्मशान भूमि मे, शास्त्र पठन कालमें तथा संभोग के अन्त मे जो विरागपूर्ण बुद्धि होती है वह यदि सदा बनी रहे तो परम पद निर्वाणधाम दूर नहीं है ॥२७६॥

भोग तृप्ति के कारण नहीं हैं

सुचिरं देवभोगेऽपि यो न तृप्तो हताशकः ।
स कथं तृप्तिमागच्छेन्मनुष्यभवभोगकैः ।।२७७।।

अर्थः- जो जीव चिरकाल तक देवों के भोग, भोग कर भी तृप्त नहीं हुआ वह तृष्णालु, मनुष्यभव के स्वल्प भोगों से कैसे तृप्ति को प्राप्त होगा? ।।२७७।।

कषायरूपी विष संयम को निःसार कर देता है

संयमोत्तमपीयूषं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।
कषायविषसेकोऽयं निःसारीकुरुते क्षणात् ।।२७८।।

अर्थ- यह कषायरूपी विष का सींचना, समस्त इष्ट सिद्धियों को देने वाले संयमरूपी उत्तम अमृत को क्षणभर में निःसार कर देता है ।।२७८।।

परम पद को कौन प्राप्त होते हैं?

संसारध्वंसिनीं चर्यां ये कुर्वन्ति सदा नराः ।
रागद्वेषहतिं कृत्वा ते यान्ति परमं पदम् ।।२७९।

अर्थ- जो मनुष्य सदा संसार को नष्ट करने वाली मुनि वृत्ति को करते है वे राग द्वेष का विघात कर परम पद को प्राप्त होते हैं ।।२७९।।

संयम का क्या लक्षण ?

व्रतानां धारणं दण्डत्यागः समितिपालनम् ।
कषायनिग्रहोऽक्षाणां जयः संयम इष्यते ।।२८०।।

अर्थ:-व्रतों का धारण करना, मन वचन काय की प्रवृत्ति रूप दण्डों का त्याग करना, समितियों का पालन करना, कषायों का निग्रह करना, और इन्द्रियों को जीतना संयम कहलाता है ।।२८०।।

वैराग्य धारण करने की प्रेरणा

वैराग्यसारं दुरितापहारं मुक्त्यङ्गनादानविधौ समर्थम् ।
पापारिवृक्षस्य महाकुठारं सौख्याकरं त्वं भज सर्वकालम् ।।

अर्थः- हे आत्मन् ! पापों के नाशक, मुक्तिरूपी स्त्री के देने मे समर्थ, पापरूप वृक्ष को नष्ट करने के लिये तीक्ष्ण कुठार तथा सुखों की खान स्वरूप वैराग्य को तू सदा धारण कर ।।२८१।।

तप धारण करने की प्रेरणा

स्वागताच्छन्दः

कर्मपर्वतनिपातनवज्रं स्वर्गमुक्तिसुखसाधनमन्त्रम् ।
मन्मथेन्द्रियदमं शुभबीजं त्वं तपः कुरु समीहितदातृ ।२८२।

अर्थ:- जो कर्मरूपी पर्वत को गिराने के लिये वज्र है, स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्राप्त कराने के लिये मन्त्र है, कामेन्द्रिय का दमन करने वाला है, शुभ कार्यों का बीज है तथा अभिलषित पदार्थों को देने वाला है ऐसे तप को तू कर।

जैनी दीक्षा कैसे प्राप्त होती है ?

बोधिलाभाच्च वैराग्यात्काललब्ध्यादिसंश्रयात् ।
जैनीं दीक्षां ससंस्कारां द्विजः संप्राप्तुमर्हति ॥२८३॥

अर्थ:- रत्नत्रय की प्राप्ति से, वैराग्य से तथा काललब्धि आदि के आश्रय से द्विज-ब्राह्मण क्षत्रीय और वैश्य संस्कार से युक्त जैनी दीक्षा प्राप्त होने के योग्य है ॥२८३॥

भोगेच्छा से जन्म व्यर्थ होता है

जन्मेदं वन्ध्यतां नीतं भवभोगोपलिप्सया ।
काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तमणिर्यथा ॥२८४॥

अर्थ - मैंने संसार सम्बन्धी भोगों की इच्छा से इस जन्म को निष्फल कर दिया। खेद है कि काच के मूल्य से चिन्तामणि रत्न को बेच दिया ॥२८४॥

तप के विना कर्मसमूह नष्ट नहीं हो सकता

कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं विना।
दावाग्निं न यथा परः शमयितुं शक्तो विनाम्भोधरम् ।

निष्णातः पवनं विना निरसितुं नान्यो यथाम्भोधरं
कर्मौघं तपसा विना किमपरं हन्तुं समर्थस्तथा ॥२८५॥

अर्थ - जिस प्रकार दावानल के विना कोई दूसरा वन को जलाने के लिये समर्थ नहीं है, जिस प्रकार मेघ के विना कोई दूसरा दावानल को बुझाने मे समर्थ नहीं है, और जिस प्रकार पवन के विना कोई दूसरा मेघ को दूर करनेमे समर्थ नही है, उसी प्रकार तप के विना कोई दूसरा कर्म समूह को नष्ट करने के लिये समर्थ नहीं है ॥२८५॥

तप जयवन्त रहे

यस्मात्तीर्थकृतो भवन्ति भुवने भूरिप्रतापाश्रया
श्चक्रेशा हरयो गणेश्वरबलाः क्षोणीभृतो वज्रिणः ।
जायन्ते बलशालिनो गतरुजो यस्माच्च पूर्वर्षिभि-
र्यच्चक्रे घनकर्मपाशमथनं जीयात्तपस्तच्चिरम् ॥२८६॥

अर्थः- जिस तप से मनुष्य संसार मे तीर्थंकर होते है, बहुत भारी प्रताप के आधारभूत चक्रवर्ती होते हैं, नारायण होते हैं, जननायक बलभद्र होते है, राजा होते हैं, इन्द्र होते हैं, बलिष्ठ होते है, निरोग होते है और पूर्व ऋषि जिस तप को करते थे ऐसा तीव्र कर्मरूप पाश को नष्ट करने वाला वह तप चिरकाल तक जयवन्त रहे ॥२८६॥

तप से पाप नष्ट होते हैं

तपोभेषजयोगेन जन्ममृत्युजरारुजः ।
पञ्चाक्षारातिभिः सार्धं विलीयन्तेऽघराशयः ॥२८७॥

अर्थ:- तपरूपी औषध के योग से जन्म, मृत्यु और जरा रूपी रोग तथा पापों के समूह पञ्चेन्द्रिय रूपी शत्रुओं के साथ विलीन हो जाते है ॥२८७॥

तप से मुक्ति सुलभ है

तपः करोति यो धीमान् मुक्तिश्रीरञ्जिताशयः ।
स्वर्गो गृहाङ्गणस्तस्य राज्यसौख्यस्य का कथा ॥२८८॥

अर्थ:- मुक्तिरूपी लक्ष्मी मे अनुरक्तचित्त होकर जो बुद्धिमान् तप करता है उसे स्वर्ग घर का आंगन है, राज्य सुख की क्या कथा है ? अर्थात् वह तो प्राप्त होता ही है ॥२८८॥

तप का बल सबसे श्रेष्ठ बल है

लोकत्रयेऽपि तन्नास्ति तपसा यन्न साध्यते ।
बलानां हि समस्तानां स्थितं मूर्ध्नि तपोबलम् ॥२८९॥

अर्थ:- तीनों लोकों मे वह वस्तु नहीं है जो तप से सिद्ध न होती हो । यथार्थ में तप का बल सब बलों के शिर पर स्थित है—सब बलों मे श्रेष्ठ है ॥२८९॥

तपस्वी की शक्ति इन्द्र को दुर्लभ है

न सा त्रिदशनाथस्य शक्तिः कान्ति द्युतिधृतिः ।
तपोधनस्य या साधोर्यथाभिमतकारिणी ॥२६०॥

अर्थ - तपस्वी साधु की यथाभिलषित कार्य को सिद्ध करने वाली जो शक्ति है, कान्ति है, द्युति है और धृति है वह इन्द्र के नहीं होती ॥२६०॥

तप से सब वस्तुएं सुलभ है

तपसालंकृतो जीवो यद् यद् वस्तु समीहते ।
तत्तदेव समायाति, भुवनत्रितये ध्रुवम् ॥२६१॥

अर्थ - तप से सुशोभित जीव जिस-जिस वस्तु की चाह करता है, तीनों लोकों मे नियम से वह उसी-उसी वस्तु को प्राप्त होता है ॥२६१॥

तपरूपी वृक्ष मोक्षरूपी फल को देने वाला है

स्रग्धराछन्दः

सन्तोषस्थूलमूलः प्रशमपरिकरस्कन्धबन्धप्रपञ्चः
पञ्चाक्षीरोधशाखः स्फुरतशमदलः शीलसंपत्प्रवालः ।
श्रद्धाम्भःपूरसेकाद् विपुलबलयुतैश्वर्यसौन्दर्यभोगः
स्वर्गादिप्राप्तिपुष्पः शिवपदफलदः स्यात्तप पादपोऽयम्

अर्थ:- संतोष ही जिसकी बडी मोटी जड है, शान्ति का परिकर ही जिसकी पींड है, पञ्चेन्द्रियों का दमन ही जिसकी शाखाएं हैं, प्रकट हुआ शमभाव ही जिसके पत्ते हैं, शीलरूप संपत्ति ही जिसकी नई कोंपल है, श्रद्धारूपी जल के सींचने से जिसके प्रबल ऐश्वर्य और सौन्दर्यरूपी भोग विस्तार को प्राप्त हुए हैं, स्वर्गादि की प्राप्ति ही जिसके फूल हैं तथा जो मोक्षरूपी फल को देने वाला है ऐसा यह तप रूपी वृक्ष है ॥२६२॥

तप से सब कुछ प्राप्त होता है

यद् दूरं यच्च दुःसाध्यं यच्च लोकत्रये स्थितम्।
अनर्घ्यं वस्तु तत्सर्वं प्राप्यते तपसाऽचिरात् ॥२६३॥

अर्थ - जो वस्तु दूर है, दुःख से प्राप्त होने योग्य है, तीन लोकों मे कही स्थित है, और अमूल्य है वह सब तप के द्वारा शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है ॥२६३॥

विशिष्टमिष्टं घटयत्युदारं, दूरस्थितं वस्त्वतिदुर्लभं च।
जैनं तपः किं बहुनोदितेन, स्वर्गश्रियं चाक्षयमोक्षलक्ष्मीम्

अर्थ:- जो वस्तु अत्यन्त इष्ट है, महान् है, दूरस्थित है और अत्यन्त दुर्लभ है उसे भी जैन तप प्राप्त करा देता है। अथवा बहुत कहने से क्या ? जैन तप स्वर्ग की लक्ष्मी तथा अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी को भी प्राप्त करा देता है ॥२६४॥

तप की ताड़ना मोक्ष सुख को देती है

तपोभिस्ताडिता एव जीवाः शिवसुखस्पृशः ।
तन्दुला खलु सिद्धयन्ति मुसलैस्ताडिता भृशम् ।।२९५।।

अर्थ - जीव तपों से ताडित होकर ही मोक्ष सुख का स्पर्श कर पाते हैं क्योंकि मूसलों से ताडित चांवल अच्छी तरह सीझते है ।।६९५।।

तप निःस्पृह होकर करना चाहिये

पूजालाभप्रसिद्धयर्थं यत्तपस्तप्यते नृभिः ।
शोष एव शरीरस्य न तस्य तपसः फलम् ।।२९६।।

अर्थः- जो तप पूजा और लाभ की सिद्धि के लिये मनुष्यों के द्वारा तपा जाता है उससे शरीर का शोषण ही होता है, उस तप का फल नहीं होता ।।२९६।।

तप इन्द्रियों को वश करने वाला है

तपः सर्वाक्षसारङ्गवशीकरणवागुरा ।
कषायतापमृद्वीका कर्माजीर्णहरीतकी ।।२९७।।

अर्थ - तप, समस्त इन्द्रिय रूपी हरिणों को वश करने के लिये जाल है, कषायरूपी गर्मी को शान्त करने के लिये दाख है तथा कर्मरूपी अजीर्ण का शमन करने के लिये हर्ड है ।

शक्ति को न छिपा कर तप करना चाहिये

अनाच्छाद्य स्वसामर्थ्यं द्विषड्भेदं तपोऽनघम् ।
दुष्कर्मारण्यदावाग्नि विदध्यात्प्रत्यहं यतिः ॥२९८॥

अर्थ-मुनि को चाहिये कि वह अपनी सामर्थ्य को न छिपा कर दुष्कर्मरूपी अटवी को जलाने के लिये दावानलस्वरूप बारह प्रकार का निर्दोष तप प्रतिदिन करे ॥२९८॥

समर्थ युवापुरुष को तप अवश्य करना चाहिये

ध्यानानुष्ठानशक्तात्मा युवा यो न तपस्यति ।
स जराजर्जरोऽन्येषां तपोविघ्नकरः परम् ॥२९९॥

अर्थ - ध्यान की सामर्थ्य से युक्त होकर भी जो तरुण पुरुष तपश्चरण नहीं करता है वह अन्त मे वृद्धावस्था से जर्जर शरीर होकर दूसरों के तप मे अधिक विघ्न करने वाला होता है ॥२९९॥

तप मुक्ति का पाथेय है

तपो मुक्तिपुरीं गन्तुं पाथेयं स्याद्धि पुष्कलम् ।
मुक्तिरामां वशीकर्तुं तपो मन्त्रोऽङ्गिनां मतः ॥३००॥

अर्थ - तप, मुक्तिरूपी नगरी को जाने के लिये पर्याप्त सम्बल है और मुक्तिरूपी स्त्री को वश करने के लिये प्राणियों का वशीकरण मन्त्र है ॥३००॥

पुण्यशाली जीव तप करते है

पुण्यवन्तो महोत्साहाः प्रबोधं परमं गताः ।
विषवद् विषयान् दृष्ट्वा ये तपस्यन्ति सज्जनाः ॥३०१॥

अर्थ - परम प्रबोध को प्राप्त हुए जो सज्जन विषयों को विष के समान देख कर बहुत भारी उत्साह से सहित होते हुए तप करते है वे पुण्यशाली है ॥३०१॥

तप ही मुक्ति का कारण है

ये बुधा मुक्तिमापन्ना यान्ति यास्यन्ति निश्चितम्
केवलं तपसा ते वै हेतुरन्यो न विद्यते ।।३०२।।

अर्थ - जो विद्वान् मुक्ति को प्राप्त हुए है, हो रहे हैं और होंगे वे निश्चित ही एक तप के द्वारा हुए है, हो रहे है और होंगे, मुक्ति का दूसरा कारण नहीं है। ॥३०२॥

दीक्षा की प्रार्थना

संसारकूपसंपातिहस्तालम्बनधारिणीम् ।
देहि दीक्षां विभो मह्यं कर्मविच्छेदकारिणीम् ।।३०३।।

अर्थ - कोई भव्य आचार्य से प्रार्थना करता है कि हे नाथ ! संसाररूपी कुए मे पडने वालों लिये हाथ का सहारा देने वाली तथा कर्मों का विच्छेद करने वाली दीक्षा मुझे दीजिये,

दीक्षा की प्रार्थना

प्रसीद वरद स्वात्मदीक्षया करुणाम्बुधे ।
मोहं महारिपुं जेतुमिच्छामि त्वत्प्रसादतः ॥३०४॥

अर्थः- हे वरद ! हे दयासागर ! प्रसन्न होओ, आपके प्रसाद से मै जिन दीक्षा धारण कर मोह रूपी महा-शत्रु को जीतना चाहता हू ॥३०४॥

अहो मया प्रमत्तेन विषयान्धेन नेक्षिताः ।
कष्टं शरीरसंसारभोगनिस्सारता चिरम् ॥३०५॥

अर्थः- क्योंकि मुझ प्रमादी ने विषयों में अन्धा होकर इतने दिन तक शरीर संसार और भोगोंकी असारता नहीं देखी , यह बड़े खेद की बात है ॥३०५॥

दीक्षा किन्हे देना चाहिये ?

विप्राः क्षत्रिया वैश्या ये सम्यक्त्वविभूषिताः ।
तेषां दीक्षा विदातव्या भिक्षा तत्रैव नान्यथा ॥३०६॥

अर्थ - जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सम्यग्दर्शन से विभूषित है उन्हे ही दीक्षा देना चाहिये तथा वे ही भिक्षा के पात्र हैं अन्य नहीं ॥३०६॥

विरक्त मनुष्य की प्रार्थना

भगवंस्त्वत्प्रसादेन संप्राप्य जिनदीक्षणम् ।
तपोविधातुमिच्छामि निर्विण्णो गृहवासतः ॥३०७॥

अर्थ.- हे भगवन् ! मैं गृहवास से उदास हो चुका हूं, अब आपके प्रसाद से जिन दीक्षा प्राप्त कर तप करना चाहता हूं।

दीक्षा योग्य मनुष्य कौन है ?

शान्तो दान्तो दयायुक्तो मदमायाविवर्जितः ।
शास्त्ररागी कषायघ्नो दीक्षायोग्यो भवेन्नरः ॥३०८॥

अर्थ - जो शान्त हो, जितेन्द्रिय हो, दयालु हो, मद और माया से रहित हो, शास्त्रों का अनुरागी हो और कषाय को नष्ट करने वाला हो। वह मनुष्य दीक्षा के योग्य हो सकता है ॥३०८॥

रागी और वीतराग की विशेषता

चक्रवर्त्यादिमल्लक्ष्मीं वीतरागो विहाय वै ।
जिनदीक्षां समादत्ते, तृणं रागी न मुञ्चति ॥३०९॥

अर्थ - वीतराग मनुष्य चक्रवर्ती आदि की प्रशस्त लक्ष्मी को छोड़कर जिनदीक्षा धारण कर लेता है और रागी मनुष्य तृण भी नहीं छोडता ॥३०६॥

विना वैराग्य के दीक्षा का लेना निरर्थक है

विरक्तत्वमनासाद्य दीक्षादानं करोति यः ।
तस्य जन्म वृथैव स्यादजाकण्ठे स्तनाविव ।।३१०।।

अर्थः- जो मनुष्य विरक्तता को प्राप्त किये विना दीक्षा ग्रहण करता है उसका जन्म बकरी के गले में स्थित स्तनों के समान निरर्थक है ।।३१०।।

यौवन के समय तप करना चाहिये

यौवने कुरु भो मित्र ! तपो दुश्चरमञ्जसा ।
जिनदीक्षां समादाय, मुक्तिस्त्रीचित्तरञ्जिकाम् ।।३११।।

अर्थ: हे मित्र ! मुक्तिरूपी स्त्री के चित्त को अनुरक्त करने वाली जिन दीक्षा लेकर यौवन के समय दुश्चर वास्तविक तप करो ।।३११।।

तप करने मे समर्थ देह, देह है

मन्ये देहं तमेवाहं यश्चारित्रतपःक्षमः ।
परीषहसहे धीरं मतः पापकरः परः ।।३१२।।

अर्थ—— मैं उसी शरीर को शरीर मानता हू जो चारित्र और तप के धारण मे समर्थ है तथा परीषहों के सहने में धीर है, अन्य शरीर पाप को करने वाला है ।।३१२।।

पूर्व धर्म के प्रभाव से दीक्षा की प्राप्ति होती है

पूर्वधर्मानुभावेन परं निर्वेदमागतः ।
अभियाति महादीक्षां जिनेन्द्रमुखनिर्गताम् ॥३१३॥

अर्थ पूर्व धर्म के प्रभाव से यह जीव परमवैराग्य को प्राप्त हो जिनेन्द्र भगवान् के मुख से उपदिष्ट महादीक्षा को प्राप्त होता है ॥३१३॥

विरक्त पुरुष की अभिलाषा

कदा नु विषयांस्त्यक्त्वा निर्गत्य स्नेहचारकात् ।
आचरिष्यामि जैनेन्द्रं तपोनिर्वृतिकारणम् ॥३१४॥

अर्थ - मैं स्नेह के कारागार से निकल कर तथा विषयों का परित्याग कर मोक्ष के कारण भूत जिनोपदिष्ठ तप का आचरण कब करूंगा ॥३१४॥

दीक्षा धारण करने की उत्कण्ठा

प्रतिपद्य कदा दीक्षां विहरिष्यामि मेदिनीम् ।
क्षपयित्वा कदा कर्म प्रपत्स्ये सिद्धलक्षयम् ॥३१५॥

अर्थ मैं दीक्षा धारण कर पृथ्वी पर कब विहार करूंगा और कर्मोंका क्षय कर सिद्धालय-मोक्ष को कब प्राप्त करूंगा ?

धीर मनुष्य तपोवन मे प्रवेश करते हैं

अन्वयव्रतमस्माक मिदं यत्सूनवे श्रियम् ।
दत्त्वा संवेगिनो धीराः प्रविशन्ति तपोवनम् ॥३१६॥

अर्थ:- यह हमारा वंश परम्परा से चला आया व्रत है कि पुत्र के लिये लक्ष्मी देकर संसार से भयभीत धीर मनुष्य तपोवन मे प्रवेश करते हैं ॥३१६॥

भाग्यवान् कौन है ?

भाग्यवन्तो महासत्त्वास्ते नराः श्लाघ्यचेष्टिताः ।
कपिभ्रूभङ्गुरां लक्ष्मीं ये तिरस्कृत्य दीक्षिताः ॥३१७॥

अर्थ - महा शक्तिशाली तथा प्रशंसनीय चेष्टा से युक्त वे ही मनुष्य भाग्यवान् हैं जो वानर की भौंह के समान चञ्चल लक्ष्मी को तिरस्कृत कर दीक्षित हुए हैं ॥३१७॥

तपस्वियों के तप का फल

लौकान्तिकपदं सारं गणेशादिपदं परम् ।
तपःफलेन जायेत तपस्विनां जगन्नुतम् ॥३१८॥

अर्थ - तपस्वियों को तप के फलस्वरूप जगत् के द्वारा स्तुत लौकान्तिक देवों का तथा गणधरादिकों का श्रेष्ठ परम पद प्राप्त होता है ॥३१८॥

जितेन्द्रिय ही जिनमुद्रा धारण करते हैं

इन्द्रियाणि न गुप्तानि जयं कृत्वा हृदश्च यैः ।
जिनमुद्रां समादाय तैरात्मा वञ्चितः शठैः ॥३१९॥

अर्थ - जिन्होंने हृदय को जीतकर इन्द्रियों को सुरक्षित नहीं किया है— उन्हे स्वाधीन नहीं किया है उन मूर्खों ने जिनदीक्षा धारण कर अपने आपको ठगा है ॥३१९॥

पञ्चेन्द्रियों को जीतने वाले विरले हैं

दन्तीन्द्रदन्तदलनैकविधौ समर्थाः
सन्त्यत्र रुद्रमृगराजवधे प्रवीणाः ।
आशीविषस्य च वशीकरणेऽपि दक्षाः
पञ्चाक्षनिर्जयपरास्तु न सन्ति मर्त्याः ॥३२०॥

अर्थ - इस संसार में कितने ही मनुष्य बड़े बड़े हाथियों के दांत तोडने मे समर्थ हैं, कितने ही प्रचण्ड सिंहों के वध में निपुण हैं, और कितने ही सांपों को वश करने में चतुर है, परन्तु पञ्चेन्द्रियों के जीतने में तत्पर नहीं हैं ॥३२०॥

कर्म किससे डरते हैं ?

एवं प्रतिदिनं यस्य ध्यानं विमलचेतसः ।
भीतानीव न कुर्वन्ति तेन कर्माणि संगतिम् ॥३२१॥

अर्थ - निर्मल चित्त को धारण करने वाले जिस मनुष्य का ऐसा ध्यान प्रतिदिन रहता है, उससे डर कर ही मानों कर्म उसकी संगति नहीं करते ॥३२१॥

तप ही मुक्ति का कारण है

गता यान्ति च यास्यन्ति मुक्तिं येऽत्र मुमुक्षवः ।

कर्मारीन् केवलं हत्वा तपोभिस्ते न चान्यथा ॥३२२॥

अर्थः- इस संसार में जो मोक्षाभिलाषी जन मोक्ष को गये है, जा रहे है, और जावेंगे, वे सिर्फ तप के द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करके गये हैं, जा रहे है, और जावेंगे अन्य प्रकार से नहीं ॥३२२॥

राज्यलक्ष्मी से विरक्त पुरुषों के विचार

या राज्यलक्ष्मी र्बहुदुःखसाध्या दुःखेनपाल्या चपलादुरन्ता।

नष्टापि दुःखानि चिराय सूते तस्यां कदा वा सुखलेशलेशः

अर्थ - जो राज्यलक्ष्मी बहुत दुःख से प्राप्त होती है, कठिनाई से जिसकी रक्षा होती है जो चपल है, जिसका अन्त दुखदाई है और जो नष्ट होकर भी चिरकाल तक दुःख उत्पन्न करती है, उस राज्यलक्ष्मी मे सुख का लेश कब हो सकता है ? अर्थात कभी नहीं हो सकता ॥३२३॥

या दुःखसाध्या चपला दुरन्ता यस्या वियोगो बहुदुःखहेतुः ।
तस्याःकृतेजन्तुरुपैति लक्ष्म्याः परिश्रमं पश्यत मोहमस्य ॥

अर्थ जो लक्ष्मी बड़े कष्ट से उपार्जन की जाती है, चञ्चल है, तथा जिसका वियोग अत्यधिक दुःख का कारण है, ऐसी लक्ष्मी के लिए यह जीव इतना परिश्रम करता है। अहो देखो इसके मोह को ॥३२४॥

स्वच्छानामनुकूलानां संहतानां नृचेतसां ।
विपर्यासकरीं लक्ष्मीं धिक् पङ्कर्द्धिमिवाम्भसाम् ॥३२५॥

अर्थ - जिस प्रकार कीचड़ स्वच्छ अनुकूल एवं मिले हुए जल को मलिन कर देता है। उसी प्रकार यह लक्ष्मी स्वच्छ अनुकूल और मिले हुए मनुष्यों के चित्त को विपरीत कर देती है। अतः इसे धिक्कार हो ॥३२५॥

मधुरस्निग्धशीलानां चिरस्थस्नेहहारिणीम् ।
चलाचलात्मिकां धिक् धिक् यन्त्रमूर्तिमिवश्रियम् ॥३२६॥

अर्थ - जिस पकार यन्त्र मूर्ति (कोल्हू) मधुर एवं चिक्कण स्वभाव वाले तिलहनों के दीर्घकालिक तैल को हर लेती है, तथा अत्यन्त अस्थिर होती है। उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी मधुर एवं स्नेहपूर्ण स्वभाव वाले मनुष्यों के चिरकालिक स्नेह

को नष्ट कर देती है एवं अत्यन्त अस्थिर है अतः इसे धिक्कार हो ॥३२६॥

सर्वतोऽपि सुदुःप्रेक्ष्यां नरेन्द्राणामपि स्वयं ।
दृष्टिं दृष्टिविषस्येव धिक् धिक् लक्ष्मीं भयावहाम् ॥३२७॥

अर्थ - जिस प्रकार दृष्टिविष सर्प की दृष्टि विषवैद्यों के लिए भी सब ओर से स्वयं अत्यन्त दुःख से देखने योग्य तथा भय उत्पन्न करने वाली है उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी राजाओं के लिए भी सब ओर से अत्यन्त दुःख से देखने योग्य तथा भय उत्पन्न करने वाली है इसलिए इसे धिक्कार हो ।।३२७।।

मूलमध्यान्तदुःस्पर्शां सर्वदाग्निशिखामिव ।
भास्वरामपि धिग्लक्ष्मीं सर्वसन्तापकारिणीम् ।।३२८॥

अर्थः- जिस प्रकार अग्नि की शिखा सदा मूल मध्य और अन्त मे दुःख कर स्पर्श से सहित है तथा देदीप्यमान होकर भी सबको सन्ताप करने वाली है। उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी आदि मध्य और अन्त में दुःखकर स्पर्श से सहित है सब दशाओं मे दुःख देने वाली है तथा देदीप्यमान तेज से युक्त होने पर भी सबको सन्ताप उत्पन्न करने वाली है आकुलता की जननी है इसलिए इसे धिकार हो ॥३२८॥

रात्रि भोजन निन्दा

रात्रि भोजन करने वाला कैसा होता ?

विरूपो विकलाङ्गःस्यादल्पायू रोगपीडितः ।
दुर्भगो दुःकुलश्चैव नक्तंभोजी सदा नरः ॥३२९॥

अर्थ -रात्रि भोजन करने वाला मनुष्य सदा विरूप, विकलाङ्ग, अल्पायु, रोगी, अभागा और नीचकुली होता है।

रात्रि मे भोजन करना योग्य नहीं है

भानोः करैरसंस्पृष्ट मुच्छिष्टं प्रेतसंचरात्
सूक्ष्मजीवाकुलं चापि निशि भोज्यं न युज्यते ॥३३०॥

अर्थ - रात्रि मे भोजन सूर्य की किरणों से अछूता, प्रेतों के सचार से जूंठा और सूक्ष्म जीवों से युक्त होता है अतः करने योग्य नहीं है ॥३३०॥

रात्रि भोजी पशु तुल्य है

विरोचनेऽस्तसंसर्गं गते ये भुञ्जते जनाः ।
ते मानुषतया बद्धाः पशवो गदिता बुधैः ३३१॥

अर्थ - सूर्य के अस्त हो जाने पर जो मनुष्य भोजन करते हैं वे विद्वानों द्वारा मनुष्य पर्याय से युक्त पशु कहे गये हैं।

रात्रि भोजन के लम्पटी पुरुष परभव में क्या होते हैं

अन्धाः कुब्जकवामनातिविकला अल्पायुषः प्राणिनः
शोकक्लेशविषाददुःखबहुलाः कुष्ठादिरोगान्विताः ।
दारिद्र्योपहता अतीवचपला मन्दादराः स्युर्नु व
रात्रौ भोजनलम्पटाःपरभवे तिर्यक्षु श्वभ्रादिषु ॥३३२॥

अर्थ - रात्रि भोजन के लम्पट पुरुष यदि परभव में मनुष्य होते हैं तो अन्धे, कुबडे, बौने, विकलाङ्ग, अल्पायु, शोक-क्लेश और विषाद के दुःख से युक्त, कुष्ठ आदि रोगों से सहित, दरिद्र, अत्यन्त चपल और आदरहीन होते हैं तथा तिर्यञ्च और नरकों में यदि पैदा होते हैं तो उनके दुःख का कहना ही क्या है ? ॥३३२॥

रात्रि भोजन का दुष्परिणाम

मक्षिकाकीटकेशादि भक्ष्यते पापजन्तुना ।
तमःपटलसंछन्नचक्षुषा पापबुद्धिना ॥३३३॥

अर्थ - अन्धकार के समूह से जिसके नेत्र आच्छादित हो रहे हैं तथा जिसकी बुद्धि पापरूप हो रही है ऐसा पापी जीव रात्रि में भोजन करते समय मक्खी, कीडे तथा बाल आदि हानिकर पदार्थ खा जाता है ॥३३३॥

रात्रिभोजी दुर्गति को नहीं देखता

दर्शनागोचरीभूते सूर्ये परमलालसः ।
भुङ्क्ते पापमना जन्तु दुर्गतिं नावबुध्यते ॥३३४॥

अर्थः- तीव्र लालसा से युक्त पापी मनुष्य सूर्य के छिप जाने पर भोजन करता है परन्तु उससे होने वाली दुर्गति को नहीं जानता ॥३३४॥

रात्रिभोजन के दोष

डाकिनीप्रेतभूतादिकुत्सितप्राणिभिः समम् ।
भुक्तं भवेत्तेन येन क्रियते रात्रिभोजनम् ॥३३५॥

अर्थ - जो रात्रिभोजन करता है वह डाकिनी, प्रेत तथा भूत आदि निन्द्य प्राणियों के साथ भोजन करता है ॥३३५॥

रात्रिभोजन के त्यागी पुरुष को उपवास का फल मिलता है

मुहूर्त्तत्रिशतं कृत्वा काले यावति तावति ।
आहारवर्जनं जन्तु-रुपवासफलं भजेत् ॥३३६॥

अर्थः- जो पुरुष रात्रि के ३० मुहूर्त्त तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है वह उपवास के फल को प्राप्त होता है ॥३३६॥

रात्रिभोजन को धर्म बताने वाले दुःख प्राप्त करते है

निशिभुक्तिरधर्मो यै धर्मत्वेन प्रकल्पितः ।
पापकर्मकठोराणां तेषां दुःखप्रबोधनम् ॥३३७॥

अर्थ- रात्रि में भोजन करना अधर्म है फिर भी इसे जिन्होंने धर्म बतलाया है वे पाप कर्म के उदय से क्रूर चित्त है उन्हे दुःख की ही प्राप्ति होती है ॥३३७॥

रात्रिभोजी जिनशासन से विमुख है

नक्तं दिवा च भुञ्जानो विमुखो जिनशासने ।
कथं सुखी परत्र स्यान्निव्रतो नियमोज्झितः ॥३३८॥

अर्थः- रात दिन भोजन करने वाला पुरुष जिन शासन से पराङमुःख है। जो व्रत रहित तथा नियम से शून्य है वह पर भव मे सुखी कैसे हो सकता है? ॥३३८॥

एक उपवास का फल मिलता है

अह्नोमुहूर्तमात्रं यः कुरुते भुक्तिवर्जनम् ।
फलं तस्योपवासेन समं मासेन जायते ॥३३९॥

अर्थ- जो दिन में एक मुहूर्त्त के लिये भी आहार का त्याग करता है उसे एक मास मे एक उपवास के बराबर फल मिलता है ॥३३९॥

दो उपवास का फल मिलता है

मुहूर्तद्वितयं यस्तु न भुङ्क्ते प्रतिवासरम् ।
षष्ठोपवासिता तस्य जन्तो मासेन जायते ॥३४०॥

अर्थ - जो प्रतिदिन दो मुहूर्त तक भोजन नहीं करता है वह मास में बेला अर्थात दो उपवास के फल को प्राप्त होता है ॥३४०॥

रात्रिभोजन के त्याग का फल

निजकुलैकमण्डन त्रिजगदीशसम्पदम् ।
भजति यः स्वभावतस्त्यजति नक्तंभोजनम् ॥३४१॥

अर्थ - जो स्वभाव से ही रात्रि भोजन का त्याग करता है वह अपने कुल का आभूषण होता हुआ त्रिलोकीनाथ की सम्पत्ति को प्राप्त होता है ॥३४१॥

दिन भर उपवास रखकर रात्रि मे भोजन करना ठीक नही है

त्याज्यमेतत्परं लोके यत्प्रपीड्य दिवा क्षुधा ।
आत्मानं रजनीभुक्त्या गमयत्यर्जितं शुभम् ॥३४२॥

अर्थ - दिन भर भूख से अपने आपको पीडित कर जो शुभ कर्म अर्जित किया है उसे वह रात्रिभोजन से दूर कर देता है । लोक मे यह प्रथा अत्यन्त त्याज्य है ॥३४२॥

सज्जनप्रशंसा

सज्जन विरले है

मालिनी छन्दः

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा—
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥३४३॥

अर्थ :- जो मन वचन और काय में पुण्यरूपी अमृत से परिपूर्ण है, जो उपकारों की परम्परा से तीनों लोकों को संतुष्ट करते है, और जो दूसरों के परमाणु तुल्य अल्पगुणों को पर्वत जैसा बडा बना कर निरन्तर अपने हृदय में विकसित करते हैं ऐसे सज्जन पुरुष कितने है ? अर्थात् अत्यन्त विरले है ॥३४३॥

सज्जन पुण्यकार्यो से कभी तृप्त नहीं होते

सुकृताय न तृप्यन्ति सन्तः सन्ततमप्यहो ।
विस्मर्तव्या न धर्मस्य समुपास्तिः कुतःक्वचित् ॥३४४॥

अर्थ :- आश्चर्य है कि सज्जन पुण्य कार्य के लिये कभी

संतुष्ट नहीं होते अर्थात् पुण्य कार्य करने की उनकी सदा इच्छा बनी रहती है। किसी कारण से कहीं भी धर्म की उपासना न भुलना चाहिये ॥३४४॥

गुरु और देव की उपासना सदा करना चाहिये

आजन्मगुरुदेवानां माननं युज्यते सताम् ।
रोगादिभिः पुनस्तस्य क्षति नैव त्रिदोषकृत् ॥३४५॥

अर्थ - सज्जनों को निर्ग्रन्थ गुरु और वीतरागदेव की उपासना जन्म पर्यन्त करना चाहिये। रोगादि के कारण यदि कभी बाधा पडती है तो वह दोषोत्पादक नहीं है ॥३४५॥

सज्जन कभी वैर को प्राप्त नहीं होते

सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि ।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥३४६॥

अर्थ - दूसरे के हित करने मे तत्पर सज्जन, 'विनाशकाल मे भी वैर को प्राप्त नहीं होता सो ठीक है क्योंकि चन्दन का वृक्ष कटते समय भी कुल्हाडे के मुख को सुगन्धित कर देता है।

धरोहर किसके पास रखी जाती है ?

धर्मज्ञे कुलजे सत्ये सुन्याये व्रतशालिनि ।
सदाचाररतेऽक्रोधे शुद्धे बहुकुटुम्बिनि ॥३४७॥

पुरुषे क्षिप्यते वस्तु धनं भूषादि गजतम् ।
हेमवाश्वगजादि र्वा न चेन्नश्यत्यसंशयम् ॥३४८॥

अर्थ - धर्म के ज्ञाता, कुलीन, सत्यव्यवहारी, न्यायवान् , व्रतों मे सुशोभित, सदाचार मे तत्पर, क्रोध रहित, शुद्ध, और बहुकुटुम्बी मनुष्य के पास ही धन, आभूषणादि, चांदी, सोना, घोडा तथा हाथी आदि वस्तुएं धरोहर रूप मे रखी जाती है, अन्यथा वे निःसन्देह नष्ट हो जाती है ।३४७-३४८।

सत्पुरुष ही पुरुष है

वदिता योऽथवा श्रोता श्रेयसां वचसां नरः ।
पुमान् स एव शेषस्तु शिल्पिकल्पितकायिवत् ॥३४९॥

अर्थः- जो कल्याणकारी वचनों को कहता है तथा सुनता है, वही पुरुष है, बाकी शिल्पकार के द्वारा निर्मित पुतले के समान है ॥३४९॥

सज्जन परकल्याण मे संतुष्ट रहते है

तुष्यन्ति भोजने विप्रा मयूरा घनगर्जिते ।
महान्तः परकल्याणे नीचाः परविपत्तिषु ॥३५०॥

अर्थ - ब्राह्मण भोजन मे संतुष्ट होते है, मयूर मेघ गर्जना मे संतुष्ट होते हैं, महापुरुष दूसरों की भलाई मे संतुष्ट होते है और नीच पुरुष दूसरोकी विपत्तिमे संतुष्ट होते है ।३५०।

सज्जन का मन कुपित नहीं होता

साधोः प्रकोपितस्यापि मनो याति न विक्रियाम् ।
न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया ॥३५१॥

अर्थ - क्रोध उपजाये जाने पर भी सज्जन का मन विकार को प्राप्त नहीं होता सो ठीक है क्योंकि तृण की आग से समुद्र का पानी गर्म नहीं किया जा सकता ॥३५१॥

सज्जन ही आदरणीय है

सज्जनास्तु सतां पूर्वं, समावर्ज्याः प्रयत्नतः ।
किं लोके लोष्टवत्प्राप्यं श्लाघ्यं रत्नमयत्नतः ॥३५२॥

अर्थ - सज्जन पुरुष ही प्रयत्न से, सज्जनों द्वारा आदरणीय है । क्या संसार मे श्लाघ्य रत्न बिना प्रयत्न के, मिट्टी के ढेले के समान प्राप्त हो सकता है ? नहीं हो सकता है ।

सज्जनों के वचन अमृत तुल्य है

जाग्रत्वं सौमनस्यं च, कुर्यात्सद्वागलं परैः ।
अजलाशयसम्भूत- ममृतं हि सतां वचः ॥३५३॥

अर्थ- सज्जनों के वचन शाश्वतिक सावधानता, और मन की पवित्रता को करते हैं, विशेष क्या, सज्जनों के वचन जलाशय से उत्पन्न नही हुए, अमृत के समान है ॥३५३॥

सज्जनों का मन विकारी नहीं होता

न हि विक्रियते चेतः सतां तद्धेतुसन्निधौ ।
किं गोष्पदजलक्षोभी, क्षोभयेज्जलधेर्जलम् ॥३५४॥

अर्थ.- सज्जनों का मन विकार के कारण मिलने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता है। जैसे गाय के खुर प्रमाण गहरे जल मात्र को मैला कर सकने वाला मेढ़क समुद्र के जल को मैला कर सकता है ? नहीं ॥३५४॥

सज्जनों के बिना संसार का अस्तित्व नहीं ।

यत्र क्वापि हि सन्त्येव, सन्तः सार्वगुणोदयाः ।
क्वचित् किमपि सौजन्यं, नोचेल्लोकःकुतो भवेत् ।३५५।

अर्थ -सर्व के हितकारी गुणो सहित सज्जन, सर्वत्र नहीं मिलते है, कहीं कहीं पर ही होते है। क्योकि यदि संसार मे सज्जनता की गंध न रहे तो संसार का अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा ॥३५५॥

सज्जन सज्जनों से पूज्य होते है।

पूज्या अपि स्वयं सन्तः, सज्जनानां हि पूजकाः ।
पूज्यत्वं नाम किन्तु स्यात्, पूज्यपूजाव्यतिक्रमे ॥३५६॥

अर्थ - स्वयं पूज्यनीय भी सज्जन, सज्जनों के पूजक होते है, क्योंकि पूज्य पुरुषों की पूजा का उल्लंघन करने पर, पूज्यपना कैसे हो सकता है ? किन्तु नहीं हो सकता है ॥३५६॥

सज्जनों का चित्त कैसा होता है ?

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु तु महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥३५७॥

अर्थ - सम्पत्तियों में महापुरुषों का चित्त नीलकमल के समान कोमल होता है और आपत्तियों में किसी बड़े पर्वत की शिलाओं के समान कठोर होता है।

सज्जन संसर्गदोष से विकार को प्राप्त नहीं होते

नहि संसर्गदोषेण विक्रियां यान्ति साधवः ।
भुजङ्गैर्वेष्ट्यमानोऽपि चन्दनो न विषायते ॥३५८॥

अर्थः- सज्जन पुरुष संसर्ग के दोष से विकार को प्राप्त नहीं होते सो ठीक ही है क्योंकि सांपों से लिपटा हुआ चन्दन का वृक्ष विषरूप नहीं होता ॥३५८॥

सज्जनों का स्वभाव कैसा होता है ?

संपदि विनयावनता विपदि समारूढगर्वगिरिशिखराः ।
ज्ञाने मौनाभरणाश्चित्रचरित्रा जयन्ति भुवि सन्तः ।३५९।

अर्थः:- जो संपत्ति मे विनय से नम्रीभूत रहते है, विपत्ति मे गर्वरूपी पर्वत की शिखर पर चढ़ते है और ज्ञानमे मौन-रूपी आभूषण से सहित है ऐसे विचित्र स्वभाव को धारण करने वाले सज्जन पृथ्वी में जयवन्त हों ॥३५९॥

महापुरुषों की एकरूपता होती है

उदये सविता रागी रागी चास्तमये तथा।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥३६०॥

अर्थ- सूर्य उदयकाल मे लाल रहता है और अस्तकाल मे भी लाल रहता है सो ठीक है क्योंकि संपत्ति और विपत्ति मे महापुरुषों के एक रूपता रहती है ॥३६०॥

सज्जन सब मे समान रहते है

अञ्जलिस्थानि पुष्पाणि वासयन्ति करद्वयम्।
अहो सुमनसां वृत्तिर्वामदक्षिणयोः समा ॥३६१॥

अर्थ.- अञ्जलि मे स्थित फूल दोनों हाथों को सुवासित करते है सो ठीक है क्योंकि सज्जनों की वृत्ति वाम और दक्षिण (पक्ष मे अनुकूल तथा प्रतिकूल) पुरुषों मे समान रहती है ॥३६१॥

विकार ही अच्छे बुरे की पहिचान है

न जारजातस्य ललाटचिह्नं, न साधुजातस्य ललाटपद्मम् ।
यदा यदासौ भजते विकारं, तदा तदासौ खलु जारजातः ।३६२।

अर्थ.- जार से उत्पन्न हुए मनुष्य के ललाट पर कोई चिह्न नहीं होता और न सज्जन मे उत्पन्न हुए मनुष्य के ललाट पर कमल होता है परन्तु जब जब वह विकार भाव को प्राप्त होता है तब तब पता चलता है कि वह जार से उत्पन्न है ॥३६२॥

कुलीन पुरुष के लक्षण क्या है ?

न च हसति नाभ्यसूयति न परं परिभवति नाप्रियंवदति ।
न क्षिप्यां कथां कथयति लक्षणमेतत्कुलीनस्य ॥३६३॥

अर्थः- न दूसरे की हंसी करता है, न ईर्ष्या करता है, न दूसरे का अनादर करता है, न अप्रिय वचन बोलता है, और न आक्षेप के योग्य कथा कहता है यह कुलीन मनुष्य के लक्षण हैं ॥३६३॥

सज्जन और दुर्जन की विशेषता

दिव्यमाम्ररसं पीत्वा गर्वं नायाति कोकिलः ।
पीत्वा कर्दमपानीयं भेको वटवटायते ॥३६४॥

अर्थ - कोयल आम के उत्तम रस को पीकर गर्व को प्राप्त नहीं होती परन्तु मेढ़क कीचड से मिला हुआ पानी पी कर टर्र टर्र करता है ३६४॥

सज्जन और दुर्जन मे अन्तर

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते किल सज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः ॥३६५॥

अर्थ - सज्जन नारियल के समान दिखाई देते है, और दुर्जन बेर के समान बाहर ही मनोहर रहते है ॥३६५॥

सुशील मनुष्यों को कोई नष्ट नहीं कर सकता ?

न मज्जयत्यम्बुनिधिः सुशीलान्,
न दग्धुमीशो ज्वलदर्चिराग्निः ।
न देवता लङ्घयितुं समर्था
विघ्ना विनश्यन्ति विना प्रयत्नात् ॥३६६॥

अर्थ - सुशील मनुष्यों को समुद्र नहीं डुबाता है, जलती हुई ज्वालाओं से युक्त अग्नि जलाने मे समर्थ नहीं है, और देवता लांघने मे समर्थ नहीं हैं, उनके विघ्न विना प्रयत्न के ही नष्ट हो जाते हैं ॥३६६॥

कुलीन मनुष्य नम्रीभूत होते हैं

नमन्ति सफला वृक्षा नमन्ति कुलजा नराः ।
शुष्ककाष्ठाश्च मूर्खाश्च न नमन्ति कदाचन ॥३६७॥

अर्थ - फलों से युक्त वृक्ष और उच्चकुल में उत्पन्न हुए मनुष्य नम्र होते हैं सूखे काष्ठ और मूर्ख मनुष्य कभी नम्रीभूत नहीं होते ॥३६७॥

परमार्थ का ज्ञाता कौन ?

धर्मशास्त्र श्रुतौ शश्वल्लालसं यस्य मानसम् ।
परमार्थं स एवैः सम्यग्जानाति नापरः ॥३६८॥

अर्थ - जिसका मन सदा धर्म शास्त्र के सुनने की लालसा से युक्त रहता है, वही इस संसार में परमार्थ को अच्छी तरह जानता है दूसरा नहीं ॥३६८॥

अन्तरङ्ग की बात को विचारने वाले अल्प हैं

अन्योक्ति

शार्दूलविक्रीडतच्छन्दः

भ्रातः काञ्चनलेपगोपितबहिस्ताम्राकृतिः साम्प्रतं
मा भैषीः कलश ! स्थिरीभव चिरं देवालयस्योपरि ।

ताम्रत्वं गतमेव काञ्चनमयी कीर्तिः स्थिरा तेऽधुना
नान्तः केऽपि विचारयन्ति नियतं लोका बहिर्बुद्धयः ।३६९।

अर्थ- सुवर्ण के लेप से जिसकी तामे की बाह्य आकृति छिप गई है, ऐसे हे भाई कलश ! इस समय तू डर मत, मन्दिर के ऊपर चिर काल के लिये स्थिर हो जा, तेरा तामे का रूप चला गया है अब तो तेरी सुवर्णमय कीर्ति स्थिर हो गई क्योंकि अन्तरङ्ग की बात का कोई विचार नहीं करते, सचमुच ही लोग वहिर्बुद्धि है-केवल बाह्य रूप को देखते हैं।

सज्जन का हृदय कैसा होता है ?

कोमलं हृदयं नूनं साधूनां नवनीतवत् ।
परसन्तापसन्तप्तं परसौख्यसुखावहम् ॥३७०॥

अर्थ- सज्जनों का हृदय सचमुच ही मक्खन के समान कोमल होता है, इसीलिये तो वह दूसरों के संताप से संतप्त होता है और दूसरों के सुख से सुखी रहता है ॥३७०॥

सज्जन और दुर्जन की मित्रता कैसी होती है ?

इक्षोरग्रे क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः ।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानां तु विपरीता ॥३७१॥

जिस प्रकार ईख के आगे आगे की पोर में क्रम से रस की विशेषता होती जाती है उसी प्रकार सज्जन की मित्रता आगे आगे विशिष्ट—अधिक अधिक होती जाती है परन्तु दुर्जनों की मित्रता इससे विपरीत होती है ॥३७१॥

पुरुषोत्तम कौन है ?

राजानो यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति वै द्विजाः ।
साधवो यं प्रशंसन्ति स पार्थ पुरुषोत्तमः ।३७२।

अर्थ:- राजा जिसकी प्रशंसा करते है, ब्राह्मण जिसकी प्रशंशा करते है और साधु जिसकी प्रशंसा करते है हे अर्जुन ! वह पुरुषोत्तम है ॥३७२॥

मनुष्यों के चार भेद

तेतु सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुपराक्षसाः परहितं स्वर्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहित ते के न जानीमहे ।३७३।

अर्थ:- जो स्वार्थ को छोड कर परार्थ करने मे तत्पर रहते है वे सत्पुरुष है, जो स्वार्थ का विरोध न कर परार्थ करने मे तत्पर रहते है, वे सामान्य पुरुष हैं, जो स्वार्थ के लिये

परार्थ को नष्ट करते हैं वे मनुष्यों में राक्षस हैं और जो विना प्रयोजन ही दूसरों का हित नष्ट करते हैं वे कौन हैं यह हम नहीं जानते ॥३७३॥

महापुरुष का लक्षण

प्रारम्भे सर्वकार्याणि विचार्याणि पुनः पुनः ।
प्रारब्धस्यान्तगमनं महापुरुषलक्षणम् ॥२७४॥

अर्थः- प्रारम्भ में सब कार्यों का बार बार विचार कर लेना चाहिये पश्चात् प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूरा करना चाहिये यही महापुरुष का लक्षण है ॥३७४॥

महात्माओं के प्रकृतिसिद्धगुण
द्रुतविलम्बितच्छन्दः

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्
॥३७५॥

अर्थः- विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य में क्षमा, सभा में बोलने की चतुराई, युद्ध में पराक्रम, यश में इच्छा और शास्त्र में व्यसन-आसक्ति, यह सब महात्माओं में स्वभाव से सिद्ध होते हैं।
॥३७५॥

उत्तम पुरुष कब भोजन करते है ?

पितु र्मातुः शिशोः पात्रगर्भिणीवृद्धरोगिणाम् ।
प्रथमं भोजनं दत्वा स्वयं भोक्तव्यमुत्तमैः ।।३७६।।

अर्थ.- पिता, माता , बालक , मुनि आदि योग्य पात्र , गर्भिणी स्त्री, वृद्ध और रोगी मनुष्यों को पहले भोजन देकर पीछे उत्तम पुरुषों को स्वयं भोजन करना चाहिये ।।३७६।।

किनके पद पद पर तीर्थ है ?

परद्रव्येषु ये ह्यन्धाः परस्त्रीषु नपुसंकाः ।
परापवादने मूकास्तेषां तीर्थं पदे पदे ।।३७७।।

अर्थ - जो दूसरे के धन मे अन्धे है, परस्त्रियों के विषय मे नपुसंक है और दूसरे की निन्दा करने मे गूंगे है उन्हे पद पद पर तीर्थ हैं ।।३७७।।

देवताओं के समान पुरुष कौन है ?

परपरिवादनमूकाः परदोषनिदर्शने चान्धाः ।
परकटुकवचनबधिरास्ते पुरुषा देवतासदृशाः ।।३७८।।

अर्थ :- जो दूसरे की निन्दा करने मे गूंगे है, दूसरे के दोष देखने मे अन्धे हैं और दूसरे के कड़ुए वचन सुनने मे बहरे है वे पुरुष देवता के समान हैं ।।३७८।।

कुलीन मनुष्य नीच कार्य नहीं करते

वनेऽपि सिंहा गजमांसभक्षिणो, बुभुक्षिता नैव तृणांश्चरन्ति,
एवं कुलीना व्यसनाभिभूता, न नीचकर्माणि समाचरन्ति।
॥३७६॥

अर्थः- जिस प्रकार सिंह वन मे भी हाथी का मास खाते है भूख से पीडित होने पर घास नहीं खाते उसी प्रकार कुलीन मनुष्य व्यसनों से युक्त होने पर भी नीच कार्य नही करते।

सज्जन किनके वन्द्य नहीं है ?

वदनं प्रसादसदनं हृदयं सदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः ॥३८०॥

अर्थ - जिनका मुख प्रसन्नता का घर है, हृदय दया से सहित है, वचन अमृत को झराते है और इन्द्रियां परोपकार करती है वे सज्जन किनके वन्द्य नहीं है ॥३८०॥

सज्जनों के लक्षण क्या है ?

गर्वं नोद्वहते न निन्दति परं नो भाषते निष्ठुरं
प्रोक्तं केनचिदप्रियं हि सहते क्रोधं च नालम्बते।
श्रुत्वा काव्यमलक्षणं परकृतं संतिष्ठते मूकवद्
दोषांश्छादयते गुणान् प्रथयते चैतत्सतां लक्षणम् ।३८१।

अर्थ - जो न गर्व को धारण करता है, न दूसरे की निन्दा करता है, न कठोर वचन बोलता है, कोई अप्रिय बात कहता है तो उसे सह लेता है, क्रोध का आश्रय नहीं लेता है. दूसरे के द्वारा रचित दोषपूर्ण काव्य को सुन कर जो गूंगे की तरह चुप बैठा रहता है जो दूसरे के दोषों को छुपाता है तथा गुणों को विस्तृत करता है वह सज्जन है। सज्जन का यही लक्षण है ॥३८१॥

महापुरुष छोटे पुरुषों पर क्रोध नहीं करते

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचैःप्रणतानि सर्वतः ।
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
महान् महत्स्वेव करोति विक्रमम् ॥३८२॥

अर्थः- आंधी सब ओर से नीचे झुके हुए तृणों को नहीं उखाड़ती. ऊंचे वृक्षों को ही उखाड़ती है सो ठीक है क्योंकि महापुरुष महापुरुषों पर ही पराक्रम करते हैं ॥३८२॥

सज्जनों से पृथ्वी सुशोभित है

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः ।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा ।३८३।

अर्थ - जो अप्रिय वचनों के विषय मे दरिद्र है, प्रिय वचनों से सम्पन्न है, अपनी स्त्री मे संतुष्ट है, और परनिन्दा से दूर है ऐसे पुरुषों से पृथ्वी कहीं कहीं सुशोभित है ॥३८३॥

साधु कौन है ?

पृथ्वीच्छन्दः

जयन्ति जितमत्सराः परहितार्थमभ्युद्यताः
स्वयं विगतदोषकाः परविपत्तिखेदावहाः ।
महापुरुषसंकथाश्रवणजातरोमोद्गमाः
समस्तदुरितार्णवे प्रकटसेतवः साधवः ॥३८४॥

अर्थ.- जिन्होंने ईर्ष्या को जीत लिया है, जो परहित के लिये तत्पर रहते है, जो स्वयं दोष रहित है, जो दूसरों की विपत्ति मे खेद धारण करते है, जो महापुरुषों की कथा सुन कर रोमाञ्चित होते है और जो समस्त पुरुषों के पापरूपी समुद्र मे प्रकट पुल है वे साधु है ॥३८४॥

धीर कौन है ?

ते धीरास्ते शुचित्वाढ्या स्ते वैराग्यसमुन्नताः ।
विक्रियन्ते न चेतांसि सति येषामुपद्रवे ॥३८५॥

अर्थः- जिनके चित्त उपद्रव के होने पर भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होते वे ही धीर हैं, वे ही पवित्रता से युक्त है, और वैराग्य से उन्नत है ॥३८५॥

संपत्ति और आपत्ति महापुरुषों के ही होती है

संपदो महतामेव महतामेव चापदः ।
वर्धते क्षीयते चन्द्रो न तु तारागणः क्वचित् ॥३८६॥

अर्थ - महापुरुषों के ही संपदाए होती है और महापुरुषों के ही आपदाएं होती है क्योंकि चन्द्रमा ही बढ़ता है और घटता है ताराओं का समूह कहीं नहीं बढताघटता है ।३८६।

महापुरुषो को विकार नहीं होता है

गवादीनां पयोऽन्येद्युः सद्यो वा दधि जायते ।
क्षीरोदधिस्तु नाद्यापि महतां विकृतिः कुतः ॥३८७॥

अर्थ.- गाय आदि का दूध दूसरे दिन अथवा शीघ्र ही दही बन जाता है परन्तु क्षीरसागर आज तक दहीरूप नहीं हो सका सो ठीक है क्योंकि महापुरुषों के विकार कैसे हो सकता है ? ॥३८७॥

उत्तम पुरुषों की प्रकृति में विकार नहीं होता

मन्दाक्रान्ता

दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काञ्चनं कान्तवर्णं
घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धम् ।

छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादुदं चेक्षुदण्डं
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिविकृतिर्जायते नोत्तमानाम् ॥३८८॥

अर्थ.- सुवर्ण वार वार जलाये जाने पर भी सुन्दर वर्ण का धारक होता है, चन्दन वार वार घिसे जाने पर भी सुन्दर गन्ध से युक्त होता है और ईख वार वार काटे जाने पर भी मधुर स्वाद को देने वाला होता है सो ठीक ही है क्योंकि प्राणान्त होने पर भी उत्तम मनुष्यों की प्रकृति—स्वभाव मे विकार नहीं होता ॥३८८॥

महापुरुषों का सब अनुसरण करते है

मत्तवारणसंक्षुण्णे व्रजन्ति हरिणाः पथि ।
प्रविशन्ति भटा युद्धं महाभटपुरस्सराः ॥३८६॥
भास्वताभासितानर्थान् सुखेनालोकते जनः ।
सूचीमुखविनिर्भिन्नं मणिं विशति सूत्रकम् ॥३६०॥

अर्थ- मत्त हाथी के द्वारा चले हुए मार्ग मे हरिण चलते हैं, महायोद्धा को आगे कर साधारण योद्धा युद्ध मे प्रवेश करते है सूर्य के द्वारा प्रकाशित पदार्थों को लोग अच्छी तरह देखते है और सूई के अग्रभाग से भिन्न मणि मे सूत्र प्रवेश करता है ॥३८६-३६०॥

सज्जनों को अनादर से दुःख होता है

अन्योक्ति

न दुःखं दह्यमाने मे न च्छेदे न च घर्षणे ।
एकमेव महादुःखं गुञ्जया सह तोलनम् ॥३६१॥

अर्थ - सुवर्ण कहता है कि मुझे जलाने पर दुःख नहीं होता, काटने पर दुःख नहीं होता और घसीटने मे दुःख नहीं होता किन्तु गुमची के साथ तोला जाना यही एक मुझे सबसे बडा दुःख है ॥३६१॥

—:※:—

ब्रह्मचर्य प्रशंसा

ब्रह्मचर्य धारण करने की प्रेरणा

संसाराम्बुधितारकं सुखकरं देवैः सदा पूजितं
मुक्तिद्वारमपारपुण्यजनकं धीरैः सदा सेवितम् ।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तगुणमद्भाण्डं पवित्रं परं
इयत्रामुत्र च सौख्यगेहमपरं त्वं ब्रह्मचर्यं भज ॥३६२॥

अर्थः- जो संसाररूपी समुद्र से तारने वाला है, सुख को करने वाला है देवोंके द्वारा सदा पूजित है, मुक्ति का द्वार है,

अपार पुण्य का जनक है, धीर मनुष्यों के द्वारा सदा सेवित है, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र गुणों का उत्तम पात्र है, परम पवित्र है, तथा इस लोक और परलोक मे सुख का घर है ऐसे ब्रह्मचर्य को तुम धारण करो ॥३६२॥

ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ है

ब्रह्मचर्यं भवेत्सारं सर्वेषां गुणशालिनाम् ।
ब्रह्मचर्यस्य भङ्गेन गुणाः सर्वे पलायिताः ॥३६३॥

अर्थ.- सभी गुणी मनुष्यो मे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। क्योंकि ब्रह्मचर्य के भङ्ग होने से सब गुण नष्ट हो जाते है ॥३६३॥

ब्रह्मचर्य स्वर्ग और मोक्ष का हेतु है

ब्रह्मचर्यमपि पालय सार धर्मसारगुणदं भवतारम् ।
स्वर्गमुक्तिगृहप्रापणहेतु दुःखसागरविलङ्घनसेतुम् ।३६४।

अर्थ -जो सारभूत है, धर्म आदि श्रेष्ठ गुणों को देने वाला है, संसार से तारने वाला है, स्वर्ग और मोक्षरूपी घर की प्राप्ति का हेतु है तथा दुःखरूपी सागर को पार करने के लिये सेतु है ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन करो ॥३६४॥

ब्रह्मचर्य के विना सब व्रत व्यर्थ है

ब्रह्मचर्यं भवेन्मूलं सर्वस्या व्रतसन्ततेः ।
ब्रह्मचर्यस्य भङ्गेन व्रतानि स्युर्वृथानृणाम् ॥३६५॥

अर्थ - ब्रह्मचर्य समस्त व्रत समूह का मूल है। ब्रह्मचर्य के भङ्ग होने से मनुष्यों के व्रत व्यर्थ हो जाते हैं ॥३६५॥

परस्त्री सेवन का फल

बन्धं वधं धनभ्रंशं शोकं तापं कुलक्षयम्।
दुःखदं कलहं मृत्युं लभन्ते पारदारिकाः ॥३६६॥

अर्थ-परस्त्रीसेवी पुरुष, बन्ध, वध, धननाश, शोक, संताप, कुलक्षय, दुःखदायक कलह और मृत्यु को प्राप्त होते हैं।३६६।

अब्रह्मचर्य से क्या नष्ट होता है ?

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महायशः।
पुण्यं सुप्रीतिमत्त्वं च हन्यतेऽब्रह्मसेवनात् ॥३६७॥

अर्थ:- अब्रह्म-कुशील सेवन करने से, आयु, तेज, बल, वीर्य, लक्ष्मी, विपुलयश, पुण्य और उत्तम प्रीति नष्ट हो जाती है ॥३६७॥

शीलव्रत शाश्वतसुख का कारण है

ये शीलवन्तो मनुजा व्यतीता दृढव्रतास्ते जगत प्रपूज्याः।
परत्र देवासुरमानुषेषु परं सुखं शाश्वतमश्नुवन्ति ॥३६८॥

अर्थ - जो शीलवान् मनुष्य हो चुके हैं वे अपने व्रत पर

ढ़ रहने वाले तथा जगत् के पूजनीय हुए है। शीलवान् मनुष्य परभवमे भी देव दानव और मनुष्यो के सुख को तथा अविनाशी उत्कृष्ट मोक्ष सुख को प्राप्त करते है ॥३९८॥

शील ही अनुपम धन है

शीलं हि निर्मलकुलं सहगामिबन्धुः
शीलं बलं निरुपमं धनमेव शीलम्।
पाथेयमक्षयमलं निरपायरक्षा
साक्षादयं गुण इति प्रवदन्ति सन्तः ॥३९९॥

अर्थः- शील ही निर्मल कुल है, शील ही साथ जाने वाला बन्धु है, शील ही अनुपम बल है, शील ही धन है, शील ही अक्षय सम्बल है, शील ही निर्बाध रक्षा है और शील ही साक्षात् गुण है ऐसा सत्पुरुष कहते है ॥३९९॥

परदार सेवन कष्टकर है

सन्मार्गस्खलनं विवेकदलनं प्रज्ञालतोन्मूलनं
गाम्भीर्योन्मथनं स्वकायदमनं नीचत्वसंपादनम्।
सद्ध्यानावरणं स्वधर्महरणं पापप्रपापूरणं
धिक् कष्टं परदारलक्षणमिदं क्लेशानुभाजां नृणाम् ॥४००॥

अर्थ - जो सन्मार्ग से स्खलित करने वाला है, विवेक को

नष्ट करने वाला है, प्रज्ञारूपी लता को उखाड़ने वाला है, गाम्भीर्य को दूर करने वाला है, अपने शरीर का दमन करने वाला है, नीचत्व को प्राप्त कराने वाला है, समीचीन ध्यान को रोकने वाला है, आत्मधर्म का हरण करने वाला है और पापरूपी प्याऊ को भरने वाला है ऐसे क्लेशभोजी मनुष्यों के इस परस्त्री सेवन रूप कष्ट को धिक्कार है ॥४००॥

कामाग्नि का संताप बड़ा प्रबल है

सिक्तोऽम्बुधरव्रातैः प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपितः ॥४०१॥

अर्थः- कामाग्नि से संतप्त मनुष्य मेघों के समूह से सींचे जाने पर तथा समुद्रों में डुबोये जाने पर भी संताप को नहीं छोड़ता है ॥४०१॥

चौर्यनिन्दा

चौर्य के त्याग की निन्दा

सकलविबुधनिन्द्यं दुःखसंतापबीजं
विषमनरकमार्गं बन्धुविच्छेदहेतुम् ।
कुगतिकरमपारं पापवृक्षस्य कन्दं
त्यज सकलमदत्तं त्वं सदा मुक्तिहेतोः ॥४०२॥

अर्थ - समस्त विद्वानों के द्वारा निन्दनीय, दुःख एवं संताप का कारण, नरक का विषम मार्ग बन्धुओं के वियोग का हेतु, कुगति को करने वाला सारहीन, तथा पापरूपी वृक्ष का कन्द ऐसे समस्त अदत्तादान को तुम मुक्ति की प्राप्ति के अर्थ सदा के लिये छोड़ो ॥४०२॥

सबसे श्रेष्ठ अर्थ शौच है

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं विशिष्यते ।
योऽर्थेषु शुचिः स शुचि नवृद्धादिभि. शुचिः ॥४०३।

अर्थः- सब प्रकार की पवित्रताओं में धन की पवित्रता अपनी विशेषता रखती है। जो धन के विषय मे पवित्र है वह पवित्र है वृद्धावस्था आदि के कारण मनुष्य पवित्र नहीं होता। ४०३॥

चोरी से हानि

सौजन्यं हन्यतेभ्रंशो विस्रम्भस्य धृतादिषु ।
विपत्तिः प्राणपर्यन्ता मित्रबन्ध्वादिभिः सह ।४०४॥

गुणप्रसवसंदब्धा कीर्तिरम्लानमालिका ।
लतेव दावसंश्लिष्टा सद्यः चौर्येण हन्यते ॥४०५॥

तच्च लोभोदयेनैव दुर्विपाकेन केनचित् ।
द्वयेन तेन बध्नाति दुरायु दुष्टचेष्टया ॥४०६॥

अर्थ - चोरी से सौजन्य नष्ट हो जाता है, धरोहर आदि रखने में विश्वास चला जाता है, मित्र तथा बन्धु आदि के साथ प्राणान्त विपत्ति प्राप्त होती है, गुणरूपी फूलों से गुम्फित कीर्तिरूपी ताजी माला दावाग्नि से झुलसी लता के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। वह चोरी की आदत किसी बहुत भारी लोभ कष्ट के उदय से ही होती है। लोभ और चोरी इन दोनों से यह जीवन प्रवृत्ति द्वारा खोटी आयु का बन्ध करता है ॥४०४, ४०५, ४०६॥

रत्नत्रयप्रशंसा

रत्नत्रय के धारक ही सत्पुरुष हैं

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयं हितम् ।
तद्वन्तः सर्वदा सन्तः कथयन्ति जिनेश्वराः ॥४०७॥

अर्थ.- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों ही हितकर हैं जो सदा इनसे सहित हैं वे सत्पुरुष हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ॥४०७॥

रत्नत्रय की महिमा

प्राप्ते रत्नत्रये सर्वं प्राप्तं जगति मानवैः ।
गते रत्नत्रये लोके हारितो रत्नसंग्रहः ॥४०८॥

अर्थ - रत्नत्रय के प्राप्त होने पर संसार मे मनुष्यों को सब कुछ प्राप्त हो जाता है और रत्नत्रय के चले जाने पर रत्नों का संग्रह लुट जाता है ॥४०८॥

रत्नत्रय से ही जन्म सफल होता है

लब्धं जन्मफलं तेन सम्यक्त्वं च जीवितम् ।
येनावाप्तमिदं पूतं रत्नत्रयमनिन्दितम् ॥४०९॥

अर्थ - उसी ने जन्म का फल पाया और उसी ने सम्यक्त्व को जीवित किया जिसने कि इस पवित्र एवं प्रशंसनीय रत्नत्रय को प्राप्त किया है ।।४०९।।

रत्नत्रय का फल

सद्दृष्टिसज्ज्ञानतपोऽन्विता ये चक्रेश्वरत्वं च सुरेश्वरत्वम्
प्रकृष्टसौख्यामहमिन्द्रतां च, संपादयन्त्येव न संशयोऽस्ति

अर्थ - जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तप से सहित है वे चक्रवर्ती पद को तथा उत्कृष्ट सुख से युक्त अहमिन्द्र पद को नियम से प्राप्त करते है इसमे संशय नहीं है । ॥४१०॥

रत्नत्रयरूपी अस्त्र जयवन्त रहे

रत्नत्रयं जैनं जैत्रमस्त्रं जयत्यदः ।
येनाव्याजं व्यजेष्टार्हन् दुरितारातिवाहिनीम् ॥४११॥

अर्थ- श्री अरहन्त भगवान् ने जिसके द्वारा पापरूपी शत्रुओं की सेना को सहज ही जीत लिया था, ऐसा जयनशील जिनेन्द्र प्रणीत रत्नत्रयरूपी अस्त्र हमेशा जयवन्त रहे।
।४११॥

रत्नत्रय को नमस्कार

रत्नत्रयं तज्जननार्तिमृत्युसर्पत्रयीदर्पहरं नमामि ।
यद्भूषणं प्राप्य भवन्ति शिष्टा मुक्तेर्विरूपाकृतयोऽप्यभीष्टाः
॥४१२॥

अर्थः- मैं जन्मजरा और मृत्युरूपी तीन सर्पों के मद को हरने वाले उस रत्नत्रय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को नमस्कार करता हूं। जिसका आभूषण प्राप्त कर साधुजन विरूप आकृति के धारक होकर भी मुक्तिरूपी स्त्री के प्रिय हो जाते है ॥४१२॥

निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप

श्रद्धा स्वात्मैव शुद्धः प्रमदवपुरुपादेय इत्यञ्जसा दृक् ।
तस्यैव स्वानुभूत्या पृथगनुभवनं विग्रहादेश्च संवित् ॥
तत्रैवात्यन्ततृप्त्या मनसि लयमितेऽवस्थितिः स्वस्य चर्या ।
स्वात्मानं भेदरत्नत्रयपर परमं तन्मयं विद्धि शुद्धम् ॥४१३॥

अर्थ.- हे भेद रत्नत्रय में तत्पर आराधकराज ! सद्गुरु ने

उपदेश दिया है कि आनन्दमय द्रव्य और भाव कर्मो से रहित केवल निजात्मा ही मुमुक्षुओ के द्वारा उपादेय है। इस प्रकार से शुद्ध स्वात्मरूप अभिनिवेश ही निश्चय सम्यग्दर्शन है और उस शुद्ध स्वात्मा का ही स्वानुभूति के द्वारा मन वचन काय से पृथक चितवन करना परमार्थभूत सम्यग्ज्ञान है। तथा उस शुद्ध निज स्वरूप मे ही अत्यन्त वैतृष्ण भाव से मन को लय करके अवस्थान करना निश्चय चारित्र है अतः तू अपने को परम शुद्ध सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमय समझ ॥४१३॥

रत्नत्रय कैसा है

भज रत्नत्रयं प्रत्न, भव्यलोकैकभूषणम् ।

तोषणं मुक्तिकान्तायाः, पूषणं ध्वान्तसन्ततेः ॥४१४॥

अर्थ- मै सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी उस श्रेष्ठ रत्नत्रय की आराधना करता हू जो कि भव्यजीवों का मुख्य आभूषण है, मुक्तिरूपी कान्ता को सन्तुष्ट करने वाला है और अज्ञानान्धकार के समूह को नष्ट करने वाला है, ॥४१४॥

भवभुजगनागदमनी, दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः ।

मुक्तिसुखामृतसरमी, जयति दृगादित्रयी सम्यक् ॥४१५॥

अर्थ :- जो सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्न संसार रूपी सर्प का दमन करने के लिये नागदमनी के समान है, दुखःरूपी दावानल को शान्त करने के लिये जलवृष्टि के समान हैं, तथा मोक्ष सुखरूप अमृत के तालाब के समान है, वे सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्न भले प्रकार जयवन्त होते है ॥।।४१५॥

याञ्चा परिहार

सबसे याचना न करो
अन्योक्ति

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभि रार्द्रयन्ति धरणीं गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं य पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः।४१६॥

अर्थ:- हे मित्र चातक! क्षण भर के लिये सावधान चित्त होकर सुनो, यद्यपि आकाश मे बहुत से मेघ रहते है तथापि सभी मेघ ऐसे नही होते। उनमे कोई तो वृष्टि से पृथ्वी को आर्द्र करते हैं और कोई व्यर्थ ही गरजते है इसलिये तू जिसे जिसे देखता है उसके आगे दीन वचन मत बोल।४१६।

याचना के पूर्व ही गुण रहते है पीछे नहीं

तावत्सत्यगुणालयः पटुमतिस्तावत्सतां वल्लभः
शूरः सच्चरितः कलङ्करहितो मानी कृतज्ञः कविः।

दक्षो धर्मरतः सुशीलगुणवान् प्राप्तप्रतिष्ठान्वितो
यावन्निष्ठुरवज्रघातसदृशं देहीति नो भाषते ॥४१७॥

अर्थ - यह मनुष्य जब तक कठोर वज्रघात के समान 'देहि' देओ इस प्रकार के दीन वचन को नही कहता है तभी तक वास्तविक गुणों का घर रहता है, तभीतक तीक्ष्ण बुद्धि रहती है, तभी तक सज्जनों को प्रिय, शूरवीर, सदाचारी, कलङ्क रहित, मानी, कृतज्ञ, कवि, चतुर, धर्मात्मा, सुशीलगुण से युक्त और प्राप्त प्रतिष्ठा से सहित होता है ॥४१७॥

याचक के शरीर मे मरण के चिह्न प्रकट होते है -

गात्रभङ्गः स्वरो हीनो ह्यङ्गस्वेदो महाभयम् ।
मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके ॥४१८॥

अर्थः- शरीर का टूटना, स्वर का हीन होना, शरीर से पसीना छूटना और महाभय होना इस तरह जो चिह्न मरण के समय होते है वे सब याचक मे होते हैं ॥४१८॥

याचना कष्टकर है

देहीति वाक्यं वचनेषु कष्टं, नास्तीतिवाक्यं च ततोऽतिकष्टम्,
गृह्णातु वाक्यं वचनेषु राजा नेच्छामि वाक्यं च ततोऽधिराजः

अर्थः- 'देहि'— 'देओ' इस प्रकार का वचन, वचनों मे कष्ट है । 'नास्ति'— 'नही है' इस प्रकार का वचन उससे भी

अधिक कष्ट है। 'गृहातु'— 'लेओ', इस प्रकार का वाक्य वचनों में राजा है और 'नेच्छामि' 'मैं नहीं चाहता हूं', इस प्रकार का वाक्य उससे भी अधिक बडा राजा है ॥४१६॥

भिक्षुक निन्दा

अनाहूताः स्वयं यान्ति रसास्वादविलोलुपाः ।
निवारिता न गच्छन्ति माक्षिका इव भिक्षुकाः ॥४२०॥

अर्थ.- रसास्वाद के लोभी भिक्षुक मक्खियों के समान विना बुलाये स्वयं आ जाते हैं और हटाये जाने पर भी नहीं हटते हैं ॥४२०॥

याचना से क्या नष्ट होता है

देहीति वचनं श्रुत्वा देहस्थाः पञ्चदेवताः ।
नश्यन्ति तत्क्षणादेव श्रीह्रीधीस्मृतिकीर्तयः ॥४२१॥

अर्थ- 'देहि' 'देओ' यह वचन सुन कर शरीर में रहने वाले पांच देवता— श्री, ह्री, धी, स्मृति और कीर्ति तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं अर्थात् याचना करने वाले की लक्ष्मी, लज्जा, बुद्धि, स्मरणशक्ति और कीर्ति नष्ट हो जाती है ॥४२१॥

याचक के कुल में जन्म लेना अच्छा नहीं है

वरं पक्षिवने वासो वरं पाषाणपर्वते ।
वरं नीचकुले जन्म न जन्म याचके कुले ॥४२२॥

अर्थः- पक्षियों के वन में रहना अच्छा, पत्थरों के पर्वत पर

रहना अच्छा और नीच कुल में जन्म लेना अच्छा परन्तु याचक के कुल में जन्म लेना अच्छा नहीं है ॥४२२॥

काक और याचक में अन्तर

काक आह्वयते काकान् याचको न तु याचकान् ।
काकयाचकयोर्मध्ये वरं काको न याचकः ॥४२३॥

अर्थः- एक कौआ दूसरे कौओं को बुला लेता है परन्तु एक याचक दूसरे याचकों को नहीं बुलाता इस तरह कौआ और याचक इन दोनों में कौआ अच्छा है याचक नहीं ।४२३।

याचना करना अच्छा नहीं

तीक्ष्णधारेण खड्गेन वरं जिह्वा द्विधा कृता ।
न तु मानं परित्यज्य देहि देहीति जल्पनम् ।।४२४॥

अर्थः- पैनी धार वाले कृपाण से जीभ के दो टुकडे कर लेना अच्छा परन्तु मान छोड कर "देहि देहि" ऐसा करना अच्छा नहीं ॥४२४॥

भिक्षुक क्या शिक्षा देता है ?

द्वारं द्वारमटन् भिक्षुः शिक्षयते न याचते ।
अदत्त्वा मादृशो मा भू दत्त्वा त्वं त्वादृशो भव ॥४२५॥

अर्थः.-द्वार द्वार पर घूमता हुआ भिक्षुक याचना नहीं करता है किन्तु सभी को ऐसी शिक्षा देता है कि दान न देकर मेरे समान मत बनो किन्तु देकर अपने समान बनो । ॥४२५॥